

धर्मशिक्षा

यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

—महर्षि कृष्ण

लेखक

लक्ष्मीधर वाजपेयी

प्रकाशक

तरुण-भारत-ग्रन्थावली-कार्यालय

दारागंज, प्रयाग

मुद्रक :-

जेनरल प्रिण्टिङ्ग वर्क्स,

प्रकाशक राष्ट्रीय वाणी (लिमिटेड)

८१, पुराना बीनाबाजार ब्रूट, बल्लभसा ।

निवेदन



यह समय हमारे देश के लिए क्रान्ति का युग है। इसलिए जनता की शिक्षा में भी उत्क्रान्ति हो रही है। हमारे देश के विचारशील पुरुष पश्चिमी शिक्षाप्रणाली की त्रुटियों का अब भली भाँति अनुभव करने लगे हैं। इस शिक्षाप्रणाली में सबसे बड़ी त्रुटि यही दिखलाई पड़ती है कि विद्यार्थियों को धार्मिक और नैतिक शिक्षा विलकुल ही नहीं दी जाती। इसका फल यह होता है कि विद्यार्थियों के भावी जीवन में सदाचार और नीति का विकास विलकुल ही नहीं होता। प्रत्येक मनुष्य को उत्तम नागरिक बननेके लिए धर्मनीति की शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिये। यह बात अब सर्वमान्य हो गई है।

इसी उद्देश्य को सामने रखकर हिन्दूधर्म के विद्यार्थियों के लिए एक पुस्तक लिखने की बहुत दिन से इच्छा थी। इतने में मेरे मित्र और हिन्दू सभा के उत्साही कार्यकर्त्ता सरदार नर्मदा-प्रसादसिंह साहब ने इस कार्य के लिए मुझे विशेष रूप से प्रेरित किया। फलतः यह पुस्तक आज से कोई दो वर्ष पूर्व ही तैयार हो चुकी थी, परन्तु हिन्दीप्रकाशकों की अनुदारता, और मेरे पास स्वयं द्रव्य न होने के कारण यह पुस्तक अब तक अप्रकाशित पड़ी रही। अस्तु।

इस पुस्तक के तैयार करने में मुझे हिन्दूधर्म के अनेक ग्रन्थों का अवलोकन करना पड़ा है, और प्रत्येक विषय के

प्रमाणों का संग्रह करके बड़े परिधिमें से पुस्तक संकलित की गई है। जो कुछ लिखा गया है, उसमें मैरा अपना कुछ भी नहीं है, अपने पूर्वज इतिहासियों मुनिओं और कविओं के वचनों का संग्रह करके निबन्धों का सम्पादन कर दिया है। हिन्दूधर्म बहुत व्यापक है, और इस कारण उसमें मतभेद भी बहुत हैं। इस पुस्तक में सर्वसाधारण धर्म का ही संक्षेप में निरूपण किया गया है। जिसको मैं हिन्दू धर्म समझा है, और जिसमें मतभेद बहुत कम है उसी का संग्रह किया है। फिर भी धर्मविकास सञ्चारों से मेरी प्रार्थना है कि इसमें धर्म की सही बात, जो उन्हें दिखाई दे, उसीको वे ग्रहण करें, और मतभेद की बातों को मेरे लिए छोड़ दें।

इस पुस्तक के संशोधन में मुझे दारार्गज-हार्नसलुज, प्रमाण के मूलपूर्व संस्काराध्यापक (वर्तमान में, ग्लास्विग-वरदार के धर्म शास्त्राचार्य) विद्वान् श्रीमान् वं सहायित्व शास्त्री महोदय से बहुत सहायता मिली है। माफकी कृते इसमोचन सूचनाओं का स्वीकार किया गया है। फिर भी जो कुछ बुद्धियां पुस्तक में रह गई होंगी वगैरे संस्करण में ठीक कर दी जायेंगी। सम्पादन विद्वान् सञ्चारों से भी मेरी क्लिप्त प्रार्थना है कि जो कुछ बुद्धियां पुस्तक में दिखाई दें मुझ को अवश्य सूचित करें। उपयोगी सूचनाओं को ग्रहण करके वगैरे संस्करण में अवश्य संशोधन कर दिया जायगा। मेरी हार्मिक इच्छा है कि पुस्तक नार्वे हिन्दूधर्म के विद्यार्थियों के लिए पूर्ण उपयोगी हो।

इस पुस्तक के प्रकाशन-कार्य में मुझे रीवां-राज्य के जागीर-
दार देशभक्त सुहृद्गुरु श्रीमान् ठाकुर कृष्णवंशसिंह साहब से
भी सविशेष सहायता मिली है। अतएव उनके प्रति कृतज्ञता
प्रकाशित करना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूँ।

लक्ष्मीधर वाजपेयी

दूसरी आवृत्ति

हर्ष की बात है कि "धर्मशिक्षा" की दूसरी आवृत्ति हमको बहुत शीघ्र निकालनी पड़ी। पुस्तक को सर्वसाधारण जनता में इतना पसन्द किया कि पिछले बार मास के मन्दिर ही पढ़ाई आवृत्ति की एक हजार प्रतियाँ निकल गईं। फिर भी पुस्तक की माँग बहुत अधिक है, और इसी छिप इस बार इसकी तीस्र हजार प्रतियाँ निकाली गई हैं।

पुस्तक की प्रतों में हमारे पास सैकड़ों विद्वानों के पत्र आये हैं, और हिन्दी के प्रायः सभी समाचार-पत्र-सम्पादकों ने इसकी बहुत बहुत समालोचना की है। कई भार्य हिन्दू और संस्थाओं ने अपने विधायियों के छिप इस पुस्तक को पाठ्य ग्रन्थ के तौर पर नियुक्त किया है। उन सब महाजुमाओं को हम इसके से अभ्यर्चन करते हैं।

हमारे कुछ मित्रों ने पुस्तक के एक-मात्र अंश पर कुछ मत मेढ़ भी प्रकट किया था। उनकी सूचनाओं को स्वीकार करके इस बार कुछ मतमेढ़ का अंश निकाल दिया गया है। इसके अतिरिक्त, "पाँच महापत्र" नामक जो प्रकरण पढ़ाई आवृत्ति में छपा था उसमें यह विषय पर ही विवेचना था पंच महापत्रों पर बहुत कम लिखा गया था। इस बार इस प्रकरण से "पंच" का प्रकरण अलग करके इसकी स्वतन्त्र रूप से आचार कण्ड में रच दिया है, और पंचमहापत्र पर एक बहीन निबन्ध लिख दिया है।

कुछ सज्जनोंकी सम्मति है कि पुस्तकमें सन्ध्या, हवन, संस्कार, इत्यादि की विधियाँ भी मन्त्रों के सहित देनी चाहिए। परन्तु हमारी सम्मति में विधियाँ देना इस पुस्तक का उद्देश्य नहीं है, क्योंकि एक तो हिन्दुओं में सन्ध्या इत्यादि की अनेक विधियाँ प्रचलित हैं, अतएव कोई विधि देने से दूसरे का सन्तोष नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, विधियाँ यदि देने लगे, तो सोलह संस्कारोंकी विधियाँ, पंचमहायज्ञोंकी विधियाँ इत्यादि देने से ग्रन्थ बहुत बढ़ जायगा। सन्ध्याविधि, पंचमहायज्ञ-विधि, संस्कारविधि इत्यादि की अनेक पोथियाँ स्वतन्त्ररूप से हिन्दी में छप गई हैं, और सहज ही मिल जाती हैं। अतएव इस पुस्तक में उनके देने की आवश्यकता नहीं समझी गई। यह कर्मकाण्ड का विषय है, और अपने अपने आचार्य के द्वारा ही विद्यार्थियों को उक्त विधियों का अभ्यास करना विशेष उपयोगी होगा। अस्तु।

पुस्तक में और कुछ त्रुटि रह गई हो, तो अवश्य सूचित करना चाहिए। अगले संस्करण में उस पर विचार किया जायगा। आशा है, धर्म-शिक्षा के प्रेमी सज्जन उत्तरोत्तर इस पुस्तक का प्रचार करके हमारे उत्साह को बढ़ाते रहेंगे।

लक्ष्मीधर वाजपेयी

तीसरी आवृत्ति

भाष्य "धर्मशिक्षा" की यह तीसरी आवृत्ति निकालते हुए कुछ संशोधन हुए हो रहा है। परमात्मा की कृपा से अब हमारे देश के लोग धार्मिक शिक्षा के प्रचार में विहीन रूप से भ्रष्ट हो रहे हैं। यह हमारे लिए बड़े सौभाग्य की बात है। ज्यों ज्यों देश में धर्मशिक्षा का प्रचार होता जाएगा त्यों त्यों हमारे अन्धकार का समय विकट भाता जाएगा।

इस पुस्तक को हिन्दी पढ़नेवालों के अतिरिक्त संस्कृत के पाठकों ने भी भावर के साथ मज्जाया है, और देश की अनेक संस्कृत पाठशालाओं में उत्तरोत्तर इस पुस्तक का प्रचार बढ़ रहा है। सम्पादकमान और सर्वे साधारण लोग बड़े उत्साह के साथ इस पुस्तक का स्वाध्याय तथा प्रवचन कर रहे हैं। इसी कारण एक साल के बाद ही, हमको भाष्य यह तीसरी आवृत्ति तीन हजार की फिर निकालनी पड़ी।

अब की बार पुस्तक का बंधनस्वरूप और भी सुन्दर बना दिया गया है। जाणा है धर्मशिक्षा सख्त शिक्षासुगम पुस्तक का उत्तरोत्तर प्रचार करके हमारे उत्साह को वृद्धित करने देंगे।

हाराबंद, भाष्य।

कास्तुर कुलका १। १९४९

छद्मीधर बाजपेयी

चौथी आवृत्ति

अत्यन्त हर्ष की बात है कि हमारी “धर्मशिक्षा” का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। देशमें धर्मजागृति होने का यह बड़ा शुभ चिन्ह है। सी० पी० और यू० पी० के कुछ म्यूनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों ने भी इस पुस्तक को अपने पाठ्यक्रम में स्थान दिया है। इससे मालूम होता है कि देश के शिक्षाप्रेमी अब बालकों को धार्मिक शिक्षा देने की आवश्यकता का अनुभव करने लगे हैं। “धर्मशिक्षा” की चतुर्थ आवृत्ति निकालते हुए हम इसके प्रचारकों को हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

द्वारागंज, प्रयाग ।
मार्गशीर्ष कृष्ण १३,
स० १९८८ वि०

}

लक्ष्मीधर वाजपेयी

पांचवीं आवृत्ति

धर्मशिक्षा के प्रेमियों को यह जानकर हर्ष होगा कि हमारी इस “धर्मशिक्षा” का स्वागत न सिर्फ हिन्दी जनता ने ही किया है; बल्कि गुजरात प्रान्तमें भी इस पुस्तकका प्रचार बहुत अच्छा हो रहा है। गुजराती भाई इसको हिन्दी में ही पढ़ना पसन्द करते हैं। अतएव यह पुस्तक गुजरात में हिन्दी-प्रचार के लिए माध्यम का कार्य कर रही है।

कई भयान्तु धर्मधर्मी और वैशम्यक धर्मीमानी सज्जन इस पुस्तक की प्रतियाँ खरीद कर प्रचाराय वितीर्ण करते रहते हैं। कुछ सज्जनों को तो पुस्तक इतनी पसन्द आई है कि वे इसको "वाजपेयी-स्मृति" कह कर सर्वत्र अपने पास रखते हैं। मैं समझता हूँ कि इसमें मेरा कोई छेप नहीं है। बल्कि जिन प्रविष्टों मुनियों और ऋषियों के आधार पर यह पुस्तक तैयार की गई है, वन्हीं का यह भागीर्वाद है।

द्वारापेय, प्रमाण
आधुनिकता १९२३ वि

}

छद्मीधर वाजपेयी

छठवीं आवृत्ति

राक्षसीय संघर्ष के साथ ही इस समय देश में धार्मिक संघर्ष भी बढ़ रहा है। इसलिये स्वाभाविक ही अपने धर्म के विषय में भी तीव्र जिज्ञासा इस समय जनता के हृदय में बढ़ रही है। हिन्दूधर्म के विषय में तो सहितोष आपृति देश में बिछाई दे रही है। छोटे धर्म के सम्बन्ध स्वल्पको समझना चाहते हैं।

धर्मविज्ञान पुस्तक का प्रचार भी अधिकतम इसी कारण बढ़ रहा है। इस में हिन्दूधर्म को साफ तौर पर रखने

की कोशिश की गई है। धर्म का एक क्रियात्मक स्वरूप होता है, जिस पर सहज में अमल किया जा सकता है, और एक स्वरूप ऐसा होता है जो केवल “श्रद्धा,” अन्धभक्ति पर अवलम्बित रहता है। धर्मके दोनों स्वरूपों की आवश्यकता सर्वमान्य है पर आज दिन हमारे देश को पहले धर्मके व्यवहारिक रूप की आवश्यकता है, और यह आवश्यकता कम से कम आशिक रूप में तो अवश्य ही इस पुस्तक से पूर्ण होती है। इसी कारण सर्वसाधारण जनताने इस पुस्तक को विशेष रूप से पसन्द किया है।

इसके कई उदाहरण हमारे सामने हैं। सब से ताजा और प्रभावशाली क्रियात्मक उदाहरण इस समय हमारे सामने कलकत्तेके श्री मनसुखराय मोर (फर्म सेठ रामसहायमल मोर) का है। “धर्मशिक्षा” पढ़कर ग्रन्थकारको आपने स्मरण किया। मिलनेपर मालूम हुआ कि श्री मनसुखराय मोर पूर्व जन्म के बड़े ही पुण्यात्मा व्यक्ति हैं, और उसीका यह परिणाम है कि धर्म को क्रियात्मक रूप से धारण करने की ओर आपकी इतनी प्रवृत्ति हुई। फलत आपने “धर्मशिक्षा” की छठवीं आवृत्ति को १०००० की सख्या में प्रकाशित करके जनता में उसे प्रचारित करने की अमिलापा प्रकट की। निस्सन्देह “धर्मशिक्षा” को लाखों व्यक्ति अब तक पढ़ चुके हैं, पर उस पर अपने जीवन में अमल करके दिव्य आनन्द उठानेवाले पुण्यात्मा व्यक्ति कितने होंगे। अतएव इस पुस्तक के प्रचार के सच्चे अधिकारी

भी मनसुबदण मोर ही हैं। साथ ही भगवान् से मेरी प्रार्थना है कि धर्म की ओर सर्वत्र भावकी ऐसी ही सधि दिनों दिन वृद्धिगुप्त होती रहे, जिससे "अभ्युदय" और "निःश्रेयस" भावको इसी क्रम में मिले और अन्य भावों को भावका अनुकरण करने की सुझुबि प्राप्त हो। यही क्रमबद्ध की दार्शनिक सम्मिश्रणा

प्राप्त हुआ ८ वीं १९९० वि
द्वारागत प्रकाश ।

} लक्ष्मीधर वाजपेयी



अनुक्रमणिका



पहला खंड

(धर्म क्या है)

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
(१) धर्म	१	(७) इन्द्रियनिग्रह	३२
(२) धृति	७	(८) धी (बुद्धि-विवेक)	३७
(३) क्षमा	१२	(९) विद्या	४३
(४) दम	१६	(१०) सत्य	४८
(५) अस्तेय	२१	(११) अक्रोध	५३
(६) शौच	२८	(१२) धर्मग्रन्थ	५७

दूसरा खंड

(वर्णाश्रम-धर्म)

(१) चार वर्ण	६५	(३) पांच महायज्ञ	९४
(२) चार आश्रम	७३	(४) सोलह सत्कार	९९

तीसरा खंड

(आचार-धर्म)

(१) आचार	१०५	(८) गुरुभक्ति	१४२
(२) ब्रह्मचर्य (वीर्यरक्षा)	१०९	(९) स्वदेशभक्ति	१४७
(३) यज्ञ	११४	(१०) अतिथि सत्कार	१५१
(४) दान	१२०	(११) प्रायश्चित्त और शुद्धि	१५६
(५) तप	१२७	(१२) अहिंसा	१६९
(६) परोपकार	१३३	(१३) गोरक्षा	१७७
(७) ईश्वर-भक्ति	१३८		

चौथा खंड

(दिनपर्या)

दिन	पृष्ठ	दिन	पृष्ठ
(१) बाह्यमुहूर्त	१८३	(४) मोक्ष	१९३
(२) स्नाय	१८८	(५) विद्या	१९७
(३) व्यापार	१९		

पांचवां खंड

(अध्यात्मपर्य)

(१) ईश्वर	२०५	(४) पुनर्जन्म	२१२
(२) जीव	२१	(५) माय	२१६
(३) कृषि	२१४		

छठवां खंड

(गृक्ति-संभव)

(१) विद्या	२१५	(११) जी	२५१
(२) कस्तुरि	२१६	(१२) वरुणी-विशेष	२५२
(३) लज्जोप	२१७	(१३) रैव	२५४
(४) मायकृति	३	(१४) वरगुरुप्रत्यय	२५५
(५) पुत्रं	२४२	(१५) राक्षसीति	२५६
(६) मित्र	४८	(१६) वृक्षीति	२६
() बुद्धिमाय	२४६	(१७) मायारक्षसीति	२६१
(८) कृत्	२४७	() व्यवहारक्षसीति	२६४
(९) वं धीर ग्रन्थ	२४९	(१९) लज्ज	२६६
(१) कृत्वा	२५		

धर्म-शिक्षा पर कुछ सम्मतियां

‘The very fact that in only about four months time since the publication of the first edition of it another had to be brought out testifies to the value and the immense popularity of this book. It contains beautifully well-written short essays—a sort of lay sermons—on a number of subjects of morality and ethics and as such it makes an excellent text-book for students in school. It is in fact written with that aim in view and therefore those interested in the full development of the moral, the religious and the patriotic instincts in the students should find the book particularly suited for the purpose. The subject, the tenor and the style of the book is in marked contrast to those generally found in the text-books at present, prescribed for use in Government or Government-aided institutions. We earnestly commend the publication to the attention of the members of the text-book committees’

—सर्वलाइट”

“पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी हिन्दी के पुराने और प्रसिद्ध लेखक हैं। आप हिन्दी-केसरी, हिन्दी-चित्रमयजगत्, आर्यमित्र, आदि कई पत्रों के सम्पादक रह चुके हैं, आपने कितनी ही महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। हर्ष की बात है कि यह ‘धर्मशिक्षा’ भी वाजपेयीजी की ही हस्त लेखनी द्वारा लिखी गई है। पुस्तक “धर्मशिक्षा” देने के लिये बहुत उपयोगी है। इसमें एक बात जो खास रखी गई है, वह यह

(१२)

चौथा खंड

(दिनपर्या)

	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
१) व्याख	१८६	(४) भोजन	१९६
२) व्याख्यान	१८८	(५) शिक्षा	१९७
	१९		

पाँचवां खंड

(अध्यात्मपर्य)

(१) ईश्वर	२०५	(४) उपवास	२१२
(२) शीघ्र	२१	(५) मोक्ष	२१६
(३) धर्म	२१४		

छठवां खंड

(गृह-संनय)

(१) शिक्षा	२३५	(११) श्री	२५१
(२) मत्स्यपति	२३६	(१२) पराधीन-विषय	२५२
(३) सन्तोष	२३७	(१३) श्रम	२५३
(४) साधनद्वय	२३८	(१४) पराधनग्राम	२५४
(५) दुर्जन	२४१	(१५) पराधीनीति	२५५
(६) मित्र	२४२	(१६) कृष्णीति	२५६
(७) बुद्धिमान्	२४३	(१७) साधारणजीति	२५७
(८) धर्म	२४४	(१८) व्यवहारजीति	२५८
(९) श्री और धर्म	२४५	(१९) शत्रु	२५९
(१०) धर्म	२४६		

धर्म-शिक्षा पर कुछ सम्मतियाँ

‘The very fact that in only about four months time since the publication of the first edition of it another had to be brought out testifies to the value and the immense popularity of this book. It contains beautifully well-written short essays—a sort of lay sermons—on a number of subjects of morality and ethics and as such it makes an excellent text-book for students in school. It is in fact written with that aim in view and therefore those interested in the full development of the moral, the religious and the patriotic instincts in the students should find the book particularly suited for the purpose. The subject, the tenor and the style of the book is in marked contrast to those generally found in the text-books at present, prescribed for use in Government or Government-aided institutions. We earnestly commend the publication to the attention of the members of the text-book committees’

—सर्चलाइट”

“पंडित लक्ष्मीधर धाजपेयी हिन्दी के पुराने और प्रसिद्ध लेखक हैं। आप हिन्दी-केसरी, हिन्दी-चित्रमयजगत्, आर्यमित्र, आदि कई पत्रों के सम्पादक रह चुके हैं, आपने कितनी ही महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। हर्ष की बात है कि यह ‘धर्मशिक्षा’ भी धाजपेयीजी की ही ललित लेखनी द्वारा लिखी गई है। पुस्तक “धर्मशिक्षा” देने के लिये बहुत उपयोगी है। इसमें एक बात जो खास रखी गई है, वह यह

है कि सबातमी तथा भार्गवभाषी दोनों सम्मानक्य से इस पुस्तक-द्वारा काम बड़ा सकते हैं। पुस्तक की भाषा परिमार्जित, छाई छन्द और कानन वचन है। ऐसी किताबों को मनुष्यकी धार्मिक शिक्षा में एक ऐसे से बहुत काम हो सकता है।”

—“भार्यमित्र”

“बाइबेलीकी की इस कृति को विना किसी विचकिबाहर के हिन्दू धर्म की कुछ भी कह सकते हैं। इसे आप पढ़ें—आप को हिन्दूधर्म की सारी मोटी मोटी बातें, मोलियों की तरह गुंथी मिल जावेंगी। विचारियों के हिन्दू कोमकमति बाइबेलों के हिन्दू तो यह मन्तव्य आपसक बीज है। हमारी धार्मिक इच्छा है कि हिन्दी-भाषा प्रयोग के विद्या-विषय इस—बड़े परिमर्ग और बोलते किसी हुई—पुस्तक को मन्तव्य और प्रान्त के बाइबेलों में इसका और इसकी मन्तव्यमिच्छाओं का प्रचार करें।”

—“मन्तव्य”

“बहुत दिन से शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले लोग इस बात की आकांक्षता अनुभव कर रहे हैं कि धार्मिक और वैदिक शिक्षा देनेवाली पुस्तकों का हिन्दी प्रकाशन हो। ऐसी मन्तव्य में बाइबेलीकी की ने इस पुस्तक को लिखकर बड़ा अच्छा किया। इस पुस्तक को सब तरह से बखोली बखाने में कोई कसर नहीं रखी गई है। हम आशा करते हैं कि विद्या-विषय इसे अपने नई पाठ्यग्रन्थ बना कर केन्द्र का परिमर्ग सफल करेंगी।

—“वैदिक”

“The nature of the book is didactic. It deal with teachings re a practical moral life. The author has treated the life of an individual in society in its various aspects. He has taken pains to support his statements with copious extracts from Hindu religious books. The book gives excellent moral teaching to youngmen

—“वैदिक”

पहला खण्ड

धर्म क्या है

“दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः”

—मनु० अ० ६—९१

धर्मशिक्षा



धर्म

वैशेषिक शास्त्र के कर्त्ता कणाद मुनि ने धर्म की व्याख्या इस प्रकार की है —

यतोऽन्युदयनिःश्रेयससिद्धिं स धर्मः ।

अर्थात् जिससे इस लोक और परलोक, दोनों में सुख मिले, वही धर्म है। इससे जान पड़ता है कि जितने भी सत्कर्म हैं, जिनसे हमको सुख मिलता है, और दूसरों को भी सुख मिलता है, वे सब धर्म के अन्दर आ जाते हैं।

हम कैसे पहचानें कि यह मनुष्य धार्मिक है, इसके लिए मनु महाराज ने धर्म के दस लक्षण बतलाये हैं। वे लक्षण इस प्रकार हैं —

धृति क्षमा दमोऽन्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

अर्थात् जिस मनुष्य में धैर्य हो, क्षमा हो, जो विषयों में फँसा न हो, जो दूसरों को वस्तु को मिट्टी के समान समझता हो, जो भीतर-बाहर से स्वच्छ हो, जो इन्द्रियों को विषयों की ओर से रोकता हो, जो विवेकशील हो, जो विद्वान् हो, जो सत्य-वादी, सत्यमानी और सत्यकारी हो, जो क्रोध न करता हो, वही पुरुष धार्मिक है। ये दस बातें यदि मनुष्य अपने अन्दर



धारण कर ले, तो वह न तो स्वयं बुझ पाये न कोई उसके बुझ दे सके, और न यह किसी को बुझ दे सके।

मनुष्य इस संसार में जो उत्कर्ष करता है, जो कुछ वह धर्म-संबंध करता है, वही इस लोक में उसके साथ रहता है, और उस लोक में भी वही उसके साथ जाता है। साधारण लोगों में कहावत तो है कि, यश-अपयश रह जायगा, और क्या सब जायगा। यह ठीक है। मनुजी ने भी यही कहा है—

यत् धीरमुत्कृष्टं काङ्क्षोऽसमं किञ्चि ।

विमुक्ता नाम्बन्धा बन्धि कर्मन्धमकुलच्छति ॥

अर्थात् मनुष्य के मरने पर घर के लोग उसके मृत शरीर को काठ भण्डा मिट्टी के ढेरों की तरह भ्रमण ॥ विसर्जन करके विमुक्त छोड़ जाते हैं सिर्फ उसका उत्कर्ष—धर्म—ही उसके साथ जाता है।

माम् ऐसा ऐसा जाता है कि जो लोग धर्म छोड़ देते हैं—अधर्म से कार्य करते हैं, उनकी पहले वृद्धि होती है परन्तु यह वृद्धि उनके नाम का कारण होती है। मनुजी ने कहा है —

अधर्मेनेच्छते तावत्तपो भद्रानि पश्यति ।

तत्तावत्तपो भवति सम्मत्तु विनश्यति ॥

अर्थात् मनुष्य अधर्म से पहले बढ़ता है, उसको कुछ मात्स्य होता है (भ्रमण से) शत्रुओं को भी जीतता है, परन्तु अन्त में सब से नाश हो जाता है। इसलिये धर्म की मनुष्य को पहले रक्षा करना चाहिये। जो मनुष्य धर्म को मारता है, धर्म मा उसका मार देता है और जो धर्म की रक्षा करता है धर्म मा उसकी रक्षा करता है। इसलिये व्यास मुनि ने मद्दामारुत में कहा है कि धर्म को किसी दशा में भी नहीं छोड़ना चाहिये—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् ।

धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ॥

धर्मो नित्य सुखदुःखे त्वनित्ये ।

जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्य ॥

न तो किसी कामनाचण, न किसी प्रकार के भय से, और न लोभ से—यहां तक कि जीवन के हेतु से भी—धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि धर्म नित्य है और ये सब सासारिक सुख-दुख अनित्य हैं। जीव, जिसके साथ धर्म का सम्बन्ध है, वह भी नित्य है, और उसके हेतु जितने हैं वे सब अनित्य हैं। इसलिए किसी भी कारण से धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए।

स्वधर्म के विषय में भगवान् कृष्ण ने गीता में यहाँ तक कहा है कि —

श्रेयान्स्वधर्मो विगुण परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावहः ॥

अर्थात् अपना धर्म चाहे उतना अच्छा न हो, और दूसरे का धर्म चाहे बहुत अच्छा भी हो, पर तो भी (दूसरे का धर्म स्वीकार न करे) अपने धर्म में मर जाना अच्छा, पर दूसरे का धर्म भयानक है।

इसलिए अपने धर्म की मनुष्य को यत्न के साथ रक्षा करनी चाहिए। मनुजी ने कहा है कि—

धर्म एव दत्तो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।

तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो बधीत् ॥

अर्थात् धर्म को यदि हम मार देंगे, तो धर्म भी हमको मार देगा। यदि धर्म की हम रक्षा करेंगे, तो धर्म भी हमारी रक्षा करेगा। इसलिए धर्म को मारना नहीं चाहिए। उसकी रक्षा

करनी चाहिये। यदि प्राण देने की आवश्यकता हो तो प्राण भी दे देवे, परन्तु धर्म बचाने से हटे नहीं। यही मनुष्य का परम कर्तव्य है। वास्तव में मनुष्य और पशु में यही तो भेद है कि मनुष्य को ईश्वर ने धर्म दिया है, और पशुओं को धर्माधर्म का कोई ज्ञान नहीं। अन्त्य सब बातें पशु और मनुष्य में समान ही हैं। किसी ने ठीक कहा है—

आहारविद्याममृतं च, सामान्यमेतत् बहुमिर्बलायात् ।

कर्मोहि तेषामनिका विवेको बर्जेन हीना बहुमिता समानः ॥

अर्थात् आहार, निद्रा, मय, मीथुन इत्यादि सांसारिक बातें पशु और मनुष्य दोनों में एक ही समान होती हैं। एक धर्म ही मनुष्य में विशेष होता है, और जिस मनुष्य में धर्म नहीं वह पशु के तुल्य है।

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि, अपनी इस छोटी सी परलोक की उन्नति के लिए सदैव अच्छे अच्छे गुणों को धारण करे। कई लोग कहा करते हैं कि, अभी तो हमारा बहुत सा जीवन बाकी पड़ा है। जब तक बच्ये है केले-कूरे जवानों में कुछ आनन्द भोग करें, फिर जब बूढ़े होंगे धर्म को देख लेंगे। यह भावना बहुत ही भ्रष्ट की है। क्योंकि जीवन का कोई ठिकाना नहीं है। न जाने मृत्यु कब आ जावे। फिर जीवन फल, सम्पत्ति का भी यही हाल है। ये सब सदैव चलेबाकी चीजें नहीं हैं। धर्म तो मनुष्य का जीवन भर का साथी है और मरने के बाद भी वहीं साथ देता है। इसलिए बाढ़ जपस्या से ही धर्म का अभ्यास करना चाहिए। धर्म के लिए कोई समय विधित नहीं है कि, अमुक जपस्या में ही मनुष्य धर्म करे। व्यासजी ने महामारत में कहा है :—

न धर्मकालः पुरयत्य निश्चितो ।

न चापि मृत्युं पुरुषं प्रतीक्षते ॥

सदा हि धर्मस्य क्रियैव शोभना ।

सदा नरो मृत्युमुपेक्षयिष्यते ॥

अर्थात् मनुष्य के धर्माचरण का कोई समय निश्चित नहीं है और न मृत्यु ही उसकी प्रतीक्षा करेगी। मृत्यु ऐसा नहीं सोचेगी कि, कुछ दिन और ठहर जाओ, जब यह मनुष्य कुछ धर्म कर ले, तब इसका ग्रास करो। इस लिए, जब कि मनुष्य, एक प्रकार से सदैव ही मृत्यु के मुख में रहता है, तब मनुष्य के लिए यही शोभा देता है कि, वह सदैव धर्म का आचरण करता रहे।

१—धृति

धृति या धैर्य धर्म का पहला लक्षण है। किसी कार्य को साहस-पूर्वक प्रारम्भ कर देना, और फिर उसमें चाहे जितनी आपत्तियाँ आवें, उसको निर्वाह करके पार लगाना धृति या धैर्य कहलाता है। भगवान् कृष्ण ने गीता में तीन प्रकार की धृति बतलाते हुए उसका लक्षण इस प्रकार दिया है.—

धृत्या यथा धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रिया ।

योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

भगवद्गीता अ० १८

हे पार्थ योग से अटल रहनेवाली, जिस धृति से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को मनुष्य धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है।

पूति या धैर्य जिस मनुष्य में नहीं है वह मनुष्य कोई भी कार्य संसार में नहीं कर सकता। इसका मन सदा डाँधोडोल रहता है। किसी कार्य के प्रारम्भ करने का उसे साहस ही नहीं होता। राजर्षि मत्तु हरि महाराज ने कहा है —

प्रारम्भं न कुरु विजयेन वीर्यैः ।

प्रारम्भ विजयिहिता विरमन्ति मन्त्राः ॥

विजयैः कुरु पुनरपि पक्षिण्यमाणाः ।

प्रारम्भं ब्रह्ममन्त्राः न परित्यजन्ति ॥

अर्थात् जिसमें धैर्य नहीं है वे विजयों के भय से पहले हाँ घबड़ा जाते हैं, और किसी कार्य के प्रारम्भ करने का उनको साहस ही नहीं होता। ऐसे पुरुष नीचे पढ़ने के हैं। और जो उनसे कुछ अच्छे मध्यम वर्ग के हैं वे कार्य प्रारम्भ तो कर देते हैं पर बीच में विरम जा जाने से अधूरा ही छोड़ देते हैं। इन्हीं को कहते हैं,— प्रारम्भभ्रूः। भय जो सब से बड़म धैर्यशास्त्री पुरुष है वे विजयों के बार बार आने पर भी कार्य का अन्त तक पहुँचा देते हैं। बीचमें अधूरा नहीं छोड़ते। बरिच बीच में जो संकट और बाधाएँ आती हैं उनसे धैर्यशास्त्री पुरुष का उत्साह तथा तेज और भी अधिक बढ़ जाता है।

ऐसे धैर्यशास्त्री पुरुषों का धर्म का फल होता है, वे साधारण मित्र-शत्रु, हर्ष-शोक इत्यादि की परवा नहीं करते। जो कार्य उनको न्याय और धर्म का मान्य होता है उसमें उनके सामने बिजय ही संकट बाधें उनकी परवा है नहीं करते और अपने न्याय के मार्ग पर बराबर चले रहते हैं। मत्तु हरि जो पुन कहते हैं —

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु ।

लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ॥

अथैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा ।

- न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

नीतिनिपुण लोग चाहे उनकी निन्दा करें, और चाहे प्रशंसा करे, लक्ष्मी चाहे आवे, और चाहे चली जाय, आज मृत्यु हो, चाहे प्रलयकाल में हो, जो धीर पुरुष हैं, वे न्याय के पथ से विचलित नहीं होते ।

मरना-जीना तो ऐसे आदमियों के लिए खेल होता है । वे समझते हैं कि हमारी आत्मा तो अमर है—एक चोला छोड़ कर दूसरे चोले में चले जायेंगे । कृष्ण भगवान् कहते हैं —

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमार्यौवन जरा ।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

य हि न व्यथयन्त्येते पुरुष पुरुषर्षभ ।

समदुःखल्लघू धीर सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

भगवद्गीता ।

धैर्यशाली पुरुष, समझते हैं कि जैसे प्राणी की इस देह में बालपन, जवानी और बुढ़ापा की अवस्था होती है, इसी प्रकार इस चोले को छोड़कर दूसरे चोले का धारण करना भी प्राणी की एक अवस्था-विशेष है । और ऐसा समझ कर वे मोह में नहीं पड़ते । हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन, जो धैर्यशाली पुरुष सुख-दुःख को समान समझता है वही अमर होने का अधिकारी है ।

महाभारत शान्तिपर्व में व्यासजी ने इस प्रकार के धैर्यशाली पुरुष को हिमालय पर्वत की उपमा दी है —

न पंडिता बहुव्यति भाग्यवत्त न चापि संखीदति न प्रहृष्यति ।

न चापि दुःखान्तराग्रेषु बीजते द्विजा प्रकृत्वा दिनवायिवाक्यम् ॥

अर्थात् ऐसा धर्मशास्त्री पंडित पुरुष न तो क्रोध करता है, और न इन्द्रियों के विषयों में फँसता है न बुझी होता है, और न हर्ष में फूटता है, चाहे जिसने मारी संकट उस पर आकर पड़े पर वह घबड़ा कर कर्त्तव्य से नहीं हिलता—हिमाक्षय की तरह मजबूत रहता है । पुनश्च —

धर्मशिक्षितः परमा न हर्षोऽन्यैव काये न्यस्य न मोहयेत् ।

एते च दुःखे च अन्ये मन्त्रा विवेकते का स ह्यन्वरो वत् ॥

महाभाष्ये साम्प्रित्यं ।

चाहे जिसने धन उसको मिला चाहे वह हर्ष नहीं मानता और चाहे जिसने कष्ट उस पर आया वह घबड़ाता नहीं—ऐसा पुरुष परमदुःख सुखदुःख दोनों में अपने को समरूप रखता है । जैसे समुद्र अपनी मर्यादा का धारण करता है, उसी प्रकार भी पुरुष सर्व धर्म-व्यस्योद रहकर अपनी मर्यादा का नहीं छोड़ता ।

जिस पुरुष में धैर्य होता है वह ईश्वर को छोड़कर किसी से डरता नहीं । निर्मयता धर्मशास्त्री पुरुष का मुख्य व्यस्य है । ऐसा मनुष्य, धर्म को संस्थापना के लिए, दुष्टों के बुरा को नष्ट करने में अपनी सारा शक्ति लगा देता है, धीर सज्जनों के बुरा को बढ़ाता है । किसी बातकी परवा न करते हुए अपनी प्रतिष्ठा पर भरोसा रहता है । एक कवि ने कहा है :—

अर्थः कृते कीर्तिरसीह ना भूदर्थं स्वान्तु त्वापि भीताः ।

निद्रतिष्ठानमिच्छमाया नरोक्षया धर्मधनारमन्त ॥

अर्थात् धन सुख यथा इत्यादि चाहे कुछ भी न हो धीर चाहे

जितनी हानि हो, परन्तु धैर्यशाली पुरुष अपनी प्रतिज्ञा पर आरुढ़ रहते हुए सदा उत्साहपूर्वक महान् उद्योग में लगे रहते हैं।

इसलिए धैर्य को धारण करना मनुष्य के लिए बहुत आवश्यक है। चाहे जितना भारी सकट आवे, धैर्य नहीं छोड़ना चाहिये। किसी कवि ने ठीक कहा है —

त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि काले धैर्यात्कदाचिद्गतिमाप्नुयात्स ।

यथा समुद्रेऽपि च पोतमगे सायान्निको घाळति तनुमेव ॥

अर्थात् चाहे जितना सकटकाल आवे, धैर्य न छोड़ना चाहिये, क्योंकि शायद धैर्य धारण करने से कोई रास्ता निकल आवे। देखो, समुद्र में जब जहाज डूब जाता है, तब भी उसके यात्री-गण पार जाने की इच्छा रखते हैं, और धैर्य के कारण बहुत से लोगों को ऐसे ऐसे साधन मिल जाते हैं कि जिनसे उनका जीवन बच जाता है।

अतएव जो मनुष्य धैर्यशाली है, उसको धन्य हैं। ऐसे मनुष्य बहुत थोड़े होते हैं, और ऐसे ही लोगों से इस ससार की स्थिति है। किसी कवि ने ऐसे धीर पुरुषों की प्रशंसा करते हुए कहा है —

सपदि यस्य न हर्षो विपदि विपादो रणे च भीरुत्वम् ।

त भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी शुत विरलम् ॥

जिनको सम्पदा में हर्ष नहीं, और विपदा में विपाद नहीं तथा रण में निर्भय होकर शत्रु का नाश करते हैं, कभी पीठ नहीं दिखाते, ऐसे धीर पुरुष, तीनों लोकों के तिलक हैं। माता ऐसे विरले सुत पैदा करती है। सब को ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुष बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

२—क्षमा

मनुष्य को भीतर-बाहर से कोई कुछ उत्पन्न हो चाहे किसी दूसरे मनुष्य के द्वारा वह कुछ उसे दिया गया हो, और चाहे उसके कर्मों के द्वारा हो उसे मिला हो, पर इस दुःख को सहन कर जाय। उसके कारण कोष न करे, और न किसी को हानि पहुँचावे। इसी का नाम क्षमा है। क्या सहनशीलता, अक्रोध, नम्रता अहिंसा शान्ति इत्यादि सद्गुण क्षमा के साथी हैं। क्योंकि जिसमें क्षमा जैसे का शक्ति होगी उसी में सब बातें हो सकती हैं।

क्षमा का सघन से मज्जा उदाहरण घण्टी माता है। घण्टी का दूसरा नाम हो क्षमा है। घण्टी पर खान मज्जमृत करते हैं, धुँकते हैं उसका इल पायदा कुदाल इत्यादि से काटते मारते हैं सब प्रकार के कल्याणकार प्राणो पृथ्वी पर करते हैं, परन्तु पृथ्वीमाता सब का सहन करती है। सहन ही नहीं करती बल्कि उल्टे सबका उपकार करती है। सबका भयनी छाती पर धारण किये हुए है। मात्रा प्रकार के मज्ज, फल-फूल वनस्पति इकर सब प्राणिमात्र का पावन पोषण करती है, इसीलिए उसका नाम क्षमा है।

क्षमा का गुण सब मनुष्यों में अवश्य होना चाहिए। संसार में ऐसा भी कोई मनुष्य है जिसने कभी किसी का अपराध न किया हो? यदि ऐसा कोई मनुष्य हो तो वह मछे हो किसीका अपराध सहन न करे, परन्तु वास्तव में ऐसा कौन मनुष्य है? हमें तो संसार में ऐसा एक भी मनुष्य दिखाई नहीं देता कि जिसने आप-सूक्त कर, मधवा मुख से

कभी किसी का अपराध न किया हो। ऐसी दशा में क्षमा धारण करना प्रत्येक मनुष्यका परम कर्तव्य है।

मनुष्य में यदि क्षमा न होगी, तो संसार अशान्तिमय हो जायगा। एक के अपराध पर दूसरा क्रोध करेगा और फिर दूसरा भी उसके बदले में क्रोध करेगा। आपस में लड़ें-मरें और कटेंगे। संसार में दुख का हो राज्य हो जायगा। सब एक दूसरे के शत्रु हो जायेंगे। मित्रता के भाव का संसार से लोप हो जायगा। इसलिए मैत्री-भाव बढ़ाने के लिए क्षमा की बड़ी आवश्यकता है। क्षमा से बड़े-बड़े शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। नोति कहती है —

क्षमाशस्त्रं कुरु यस्य दुर्जनं किं करिष्यति ।

अतूणे पतितो बहि स्वयमेव प्रणम्यति ॥

अर्थात् क्षमा का हथियार जिसके हाथ में है, दुष्ट मनुष्य उसका क्या कर सकता है? वह तो आप ही आप शान्त हो जायगा—जैसे घासफूस से रहित पृथ्वी पर गिरी हुई आग आप ही आप शान्त हो जाती है।

बहुत बार ऐसा भी देखा गया है कि साधुओं की क्षमा के प्रभाव से दुर्जन लोग, जो पहले उनके शत्रु थे, मित्र बन गये हैं। क्योंकि चाहे दुर्जन ही क्यों न हो, कुछ न कुछ मनुष्यता उसमें रहती है, और क्षमा करने पर फिर वह अपने अपराध पर पछताता है और लज्जित होकर कभी कभी फिर स्वयं क्षमा माग कर मित्र बन जाता है। इसलिए मृदुता या क्षमा से सब काम सधते हैं। एक कवि ने कहा है —

मृदुना दारुणं हन्ति मृदुना हन्त्यदारुणम् ।

नासाध्यं मृदुना किञ्चित्स्मात्सीमत्तरं मृदु ॥

अर्थात् कोमलता, कठोरता को मार देती है, और कोमलता का तो मापनी ही है। ऐसा कोई काम नहीं जो कोमलता से सपन सके। इसलिये कोमलता ही बड़ी भारी कठोरता है। चापु लोग मद्योप, अर्थात् क्षमा से ही क्रोध को मोचते हैं, और अपनी क्षामता से दुर्जनोको जीत लेते हैं।

परन्तु नीति और धर्म यह भी कहता है कि, सब समय में क्षमा मा अच्छी नहीं होती। विशेष कर क्षत्रियों के लिये तो क्षमा का व्यवहार बहुत खोब-समझकर करना चाहिये। पास्तत्र में नीति ने कृपा रखकर—शत्रु के भी हित की कल्पना करके यदि बाहर से क्रोध दिखाया जाय तो इसका नाम क्रोध नहीं होता। वह ऐकस्मिन्ता है और ऐकस्मिन्ता भी मनुष्य का भूषण है। जिसमें ऐक नहीं वह नपुंसक या कायर है। कायरता का क्षमा कोई क्षमा नहीं। शरीर में पछ हा तो क्षमा भी शोभा देती है। अतएव व्यासजीने महाभारत में कहा है कि—

काशं क्षुण्यो भवति काशे नवति दाहना।

स वै लज्जामवाप्नोति लोकेऽस्मिन्मत्तः ॥

अर्थात् समय समझ के अनुसार जो मनुष्य मृदु और कठोर होता है—यानी मीका रखकर ऐक भी दिखाता है और क्षमा के मीके पर क्षमा भी करता है, वही मनुष्य इस छोक और परछोक में सुख पाता है। पछ पति हुए प्रचल और दुष्ट शत्रु को कभी क्षमा न करना चाहिये। यह पुरुषार्थ नहीं है। व्यासजी ने क्षत्रियों का धर्म बतलाते हुए महाभारत में कहा है—

स्वकीर्षं समाश्रित्य वा समाह्वयति वै कृतम्।

अमीतो बुध्यते क्षमश्च स वै कृष्ण कल्पतः ॥

अर्थात् स्वयं अपने बल पर जो शत्रु को ललकारता है, और निर्भय होकर उससे युद्ध करता है, वही वीर पुरुष है, और जो दूसरोंका आश्रय ढूँढ़ता है, अथवा दुम दबाकर भागता है, वह कायर है।

साराश यह है कि क्षमा मनुष्यका परम धर्म अवश्य है, परन्तु सदैव क्षमा भी अच्छी नहीं होती, और न सदैव तेज ही अच्छा होता है। मौका देखकर, जब जैसा उचित हो, तब तैसा व्यवहार करना चाहिए। मान लीजिए, कोई हमारा उपकारी है, और सदैव हमारा उपकार करता रहता है। अब, ऐसे मनुष्य से यदि कभी कोई छोटा-मोटा अपराध भी हो जाय, तो क्षमा करना उचित है। माता, पिता, गुरु, राजा इत्यादि बड़े लोगोंमें यदि क्षमा न हो, तो वे अपना कर्तव्य उचित रीतिसे नहीं बजा सकते।

छोटी-मोटी बातों पर क्रोध करके हमको अपने चित्त की शान्ति को भंग नहीं कर लेना चाहिए। विवेकसे काम लेना चाहिए। थोड़ी देर विचार करने पर हमको स्वयं शान्ति मिलेगी, और हमारा अपराधी भी कुछ विचार करेगा। बहुत सम्भव है कि, उसकी बुद्धि ठीक हो जाय, और पश्चात्तापसे वह सुधर जाय।

मनुष्य के ऊपर बहुत से ऐसे मौके आते हैं कि, जब उसको क्षमा और सहनशीलता की परीक्षा होती है। कभी आसपास के मनुष्य ही कोई मूर्खता का काम कर बैठते हैं, कभी मित्र लोग ही रूठ जाते, कभी नौकर-चाकर लोग ही धाजा भग करते हैं, कभी कोई हमारा अपमान ही कर देता है, कभी हमारे बड़े लोग ही हमको कष्ट देते हैं, कभी दुष्ट लोग निन्दा करते

हे—भव चेता ब्रह्मार्थ यदि हम बात-बात पर क्रोध करन लमें, भीर हमारा शान्ति भीर सहनशीलता से काम न लें तो क्रोध से हमारी ही हानि बिशेष हांगो। “रिख लम अरि होय कस-हानी।” इसलिये ऐसे मौकों पर हमारा अवश्य धारण करना चाहिये। इस प्रकार की हमारा सबैब उपयोगी है। इसलिये श्रुति-मुनियों ने हमारा प्रशंसा की है :—

हमारा ब्रह्मसत्त्वार्थ धारणार्थ शूलार्थ हमारा।

हमारा ब्रह्मसत्त्वार्थ हमारा किन्तु धारणार्थ है।

अर्थात् हमारा क्रमबद्ध के लिये तो सब है भीर कल्याण को शोभादायक है। हमारा से लोगोंका वशमें कर सकते हैं। हमारा से क्या नहीं सिद्ध हो सकता ?

हमारा धर्म का एक बड़ा अंग है, भीर इसका धारण करना हम सबका कर्तव्य है।

३—दम

मनको इन्द्रियों के वश में न होने देनेका नाम दम है। मनुष्यके अन्दर मन इन्द्रियों का राजा है। जिस तरफ मन इन्द्रियों को खसाता है, उसी तरफ इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें दौड़ती हैं। इस लिये जब तक मनका बुद्धि के द्वारा दमन नहीं किया जाय, जब तक इन्द्रियोंका विग्रह नहीं हो सकता। इन्द्रियोंके वश में यदि मन हो जाता है, तो इन्द्रियाँ इसको विषयोंमें फँसाकर मनुष्य का सत्यात्मता कर देती हैं। इच्छा मगधाम् भीतार्थ कहने हैं—

इन्द्रियाणां हि चरता यन्मनोऽनुविधीयते ।

तदस्य हरति प्रज्ञा धायुर्नावमिवाम्भसि ॥

गीता, अ० २

इन्द्रिया विपर्या की ओर दौड़ती रहती हैं। ऐसी दशा में यदि मन भी इन्द्रियों के पीछे ही पीछे दौड़ता है, तो वह मनुष्य की बुद्धि को इस प्रकार नाश कर देता है, जैसे हवा नौका को पानी के अन्दर डूबा देती है। इसलिए जब कभी मन बुरी तरह से विषयों की ओर दौड़े—अपनी स्वाभाविक चंचलता को प्रकट करे, तभी उसको बुद्धि और विवेक से खींचकर उसकी जगह पर ही उसको रोक देवे। कृष्णजी कहते हैं —

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव धर्मा नयेत् ॥

गीता, अ० ६

अर्थात् यह चंचल और अस्थिर मन जिधर जिधर को भागे, उधर ही उधर से इसको खींच लावे, और इसको अपने वश में रखे। मन की गति किधर को होती है ? या तो यह विषयों के सुख की ओर दौड़ेगा, अथवा किसी के प्रेम और मोह में दौड़ेगा, अथवा किसी की निन्दा-स्तुति, द्वेष या किसी को हानि पहुँचाने की ओर दौड़ेगा। जो शुद्ध मन होगा, वह ईश्वर की ओर दौड़ेगा, उसी में एकाग्र होगा। अथवा दूसरे का उपकार सोचेगा। इस प्रकार मनुष्य का मन अपनी वेगवान् गति से सदैव दौड़ा ही करता है। इसको यदि एक जगह लाकर ईश्वर में लगा देवे, तो उसी का नाम योगाभ्यास है। परन्तु मन का रोकना बहुत कठिन है। इस विषय में परम भगवद्भक्त वीरवर अर्जुनने भगवान् कृष्ण से कहा था —

बन्धनं हि ममः कृष्ण प्रणाति कथमिहम् ।

उत्पादं विपादं ममे वायोऽपि क्षुब्धम् ॥

गीता अ० १

हे कृष्ण, यह मन बड़ा बन्धन है। इन्द्रियों को विषयों की ओर से जीकसा नहीं है, बल्कि भीर बनेछता है। बाहे मिलना विवेक से काम छो फिर भी इसको जीकसा कठिन है। विषयवासनाओं में बड़ा दृढ़ है। इसका निम्न करना तो ऐसा कठिन है कि जैसे हवा की गठरी बांधना। इस पर भगवान् कृष्ण ने कहा —

अर्जुन महाबाहो मनो दुर्निर्गमं कथम् ।

अम्यासेन तु कौन्तेय शरत्पेन च पृथगे ॥

गीता अ० १

हे भीरवर अर्जुन इसमें समझ नहीं यह मन अत्यन्त बन्धन है। और इसका रोचना बहुत कठिन है, फिर भी हो उपाय ऐसे हैं कि जिनसे यह बन्धन में किया जा सकता है, भीर वे उपाय हैं—अम्यास और वीराग्य। अम्यास—अर्थात् बार बार और कराबर मन की हरकतों पर यदि हम ध्यान रखें और उसको अपनी बश में होने का प्रयत्न जारी रखें तो ऐसा नहीं कि वह बश में न हो जाये और वीराग्य—अर्थात् संसार के विषयों विषय हैं उनका उचित रूप से धर्म से सेवन करें—सेवन करें और फँसे नहीं। इनके पीछे पागल न हो जायें—अपनी आत्मा और संसार की हानि न पहुँचायें। बल्कि अपनी आत्मा और संसार के कल्याण का ध्यान रखते हुए—इन्द्रियों और मन की बश में रखते हुए—यदि हम संसार के कर्तव्यों का पालन करें, और धर्मपूर्वक विषयों का सेवन करें, तो वह भी वीराग्य ही है। इस प्रकार की चित्तवृत्ति का अम्यास करने से मन बश में हो

जाता है, और प्रसन्नता प्राप्त होती है। यही बात कृष्ण भगवान् गीता में कहते हैं :—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

गीता, २—६४

जो विषयों से प्रेम और द्वेष छोड़ देता है—अर्थात् उनमें फँसता नहीं है, धर्मपूर्वक विषयों का सेवन करता है—जिसका मन वश में है, इन्द्रियां वश में है, वह प्रसन्नता प्राप्त करता है। उसको विषयों का सुखदुख नहीं मालूम होता। मन परमात्मा और धर्म में लीन रहता है। ऐसे पुरुष को कभी क्लेश नहीं होता। क्लेश में भी वह अपने मन का दमन करके सुख ही मानता है। न उसको अपने ऊपर द्वेष या क्रोध होता है, और न दूसरे के ऊपर।

दान्त शमपर शश्वद् परिक्लेशं न वन्दति ।

न च तप्यति दान्तात्मा दृष्ट्वा परगता श्रियम् ॥

महाभारत, वनपर्व ।

जो सदैव मन और इन्द्रियों को वश में रखकर शान्त और दान्त रहता है, वह दुख का अनुभव नहीं करता। जिसने अपने मन का दमन कर लिया है, वह दूसरे के सुख को देख कर कभी जलता नहीं। सुखी होता है।

कई लोगों का मत है कि, मन को दाचना कभी नहीं चाहिए। किन्तु मन जो माँगता जावे, वही उसको देते रहना चाहिए। इस प्रकार जब मन खूब विषय-उपभोग करके तृप्त हो जायगा, तब आप ही आप उसका दमन हो जायगा। परन्तु भगवान् मनु कहते हैं कि—

य ज्ञानु कामाः कामाणामुपभोगेव शास्वति ।

इतिवा कृष्यकर्मेव धूय नृवायमिवर्धते ॥

मनुष्यसि म १

बिषयों के भोग की इच्छा बिषयों के भोग से कभी शान्त नहीं हो सफती, किन्तु धीरे धीरे बढ़ती ही जाती है—जैसे माग में घा डालने से माग और बढ़ती है। इस लिए बिषयों से मन का दमन करने से इन्द्रियाँ बाप हो बाप बिषयों से जीव जाती हैं। जैसे बछुआ अपने सब बर्गों का धम्मर सिकोड़ लेता है वैसे ही इन्द्रियाँ अपने का बिषयों से समेट करके मन के साथ आत्मा में भीतर संलग्न हो जाती हैं। जब मनुष्य की ऐसी इच्छा हो जाती है तब बिषयों से विरक्त मन को आत्मा में स्थिर करके वह मोक्ष प्राप्त करता है। इसीलिए कहते हैं कि—

मन एव मनुष्याय कार्त्तव्यं कथमाप्नुवोः ।

वन्नाव विन्वाकृतं सुखो विनिर्भव नवः ॥

मन ही मनुष्य के कर्त्तव्य और मोक्ष का कारण है, क्योंकि बिषयों में कौन्सा हुआ मन कथन में है, और बिषयों से मुक्त हुआ मुक्त है। ज्ञानी लोग बिषयों से मन को छुड़ाकर इसी धम्म में मुक्ति का अनुभव करते हैं।

सारंग यह है कि, मन की वासना जो सब बुरे और भले मार्गों की ओर बढ़ा करती है उसको बुरे मार्गों की ओर से हटाकर सदैव कल्याण-मार्ग की ओर लगाते रहना चाहिए। यही मन का दमन है। महाभारत में इसका फल इस प्रकार कहा है —

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं दममुत्तमम् ।

विपाप्मा वृद्धतेजास्तु पुण्यो विन्दते महत् ॥

महाभारत

मन का दमन करने से तेज बढ़ता है। यह मनोदमन का गुण मनुष्य में परम पवित्र और उत्तम है। इससे पाप नष्ट होता है, और मनुष्य तेजस्वी होकर परमात्मा को प्राप्त करता है।

४—अस्तेय

दूसरे की वस्तु अपहरण न करके, धर्म के साथ अपनी जीविका करने को अस्तेय कहते हैं। मनु महाराज ने धर्मपूर्वक धन कमाने के निम्नलिखित दस साधन बतलाये हैं —

विद्या शिल्प ऋति सेवा गोरक्ष्य विपणि कृपि ।

धृतिभैक्ष्य कुसीढ घ वृश जीवनहेतव ॥

अर्थात् १—अध्ययन-अध्यापन का कार्य करना, २—शिल्पविज्ञान-कारीगरी, ३—किसी के घर नौकरी करना, ४—किसी सस्था की सेवा करना, ५—गोरक्षा पशुपालन, ६—देशविदेश घूमकर अथवा एक स्थान में दूकान रखकर व्यापार करना, ७—कृपि करना, ८—सन्तोष धारण करके जो मिल जाय, उसी पर गुजारा करना, ९—भिक्षा मागना, १०—व्याज-साहकारा इत्यादि, ये दस वाते जीविका की हेतु हैं।

अपने अपने वर्ण-धर्म के अनुसार इन्हीं व्यवसायों में से कोई व्यवसाय मनुष्य को चुन लेना चाहिए। व्यवसाय कोई भी हो, ईमानदारी और सच्चाई के साथ करना चाहिए। दूसरे का धन बेईमानी या चोरी से हरण करने का प्रयत्न न करना चाहिए।

ईमावात्मनि सर्वे बलिष्ठे अगर्वा जगत् ।

तेन त्वत्तन मुञ्जीया मा गृहः कस्मिन्निदमम् ।

— इन्द्रोपनिषद्

अथान् यह सम्पूर्ण कथावर-अंगम अगत् परमात्मा से व्याप्त है —
ऐसी कोई पस्तु नहीं जिसमें यह न हो, इसलिये उसमें
हरो । ईमानदारी के साथ सच्चाई से जितना मिले, उसी का
भोग करो । किसी का धन अम्पाय से लेना ठासब मत करो
महर्षि व्यासजी ने कहा है —

येष्वा धर्मो ते सत्त्वा येष्वाधर्मो कियन्तु तान् ।

धर्मं नैवावर्तते कोके न ज्ञानावधर्मद्वया ॥

महाभारत, शान्तिपर्व ।

अथात् जो धन धर्म से पैदा किया जाता है, वही सदा धन है,
अधर्म से पैदा किये हुए धन को धिक्कार है । धन सबैव धर्म
की बीज नहीं है, और धर्म सबैव धन है । इस लिये धन
क लिये धर्म कमी न छोड़ो ।

धर्म की अवहेलना करके जो लोभ बोरी, घूस अथवा
व्यापार इत्यादि में मिथ्याचार या धूर्तता का व्यवहार करके धन
जोड़ते हैं उनको उस धन से कुछ कदापि नहीं मिलता । अम्पाय
से बहुत सा जोड़ा हुआ उनका धन दुर्घ्यसनों में कर्ब होता है
इससे उनका शरीर मिट्टी हो जाता है, और ऐसे बीच धनवाह
लोग लोभ परलोक बोनी बिगाड़ते हैं । अथवान् श्रोकप्यबन्ध
जीमि गीता में ऐसे अधर्मों का अच्छा वर्णन किया है —

आज्ञावाक्यतैर्बद्धाः कामलोकपराधमाः ।

ईदृशे कामयोगार्थमन्वायेनार्जुनसत्त्वान् ॥

जनेन्द्रविपश्चिन्त्या मोहजालकमावृणान् ।

प्रसज्यः कामयोगोऽप्यन्यत्र नरकैः शुचौ ॥

गीता अ १६

अर्थान् मैकड़ों आशाओं को फाँसियों में बँधे हुए, कामभोग में तन्पर, विषय-सुख के लिए अन्याय से धन संचय करने की चेष्टा करते हैं। चित्त चञ्चल होने के कारण भ्राति में पड़े रहते हैं। मोहजाल में लिपटे रहते हैं। काम-भोगों में फँसे रहते हैं। ऐसे दुष्ट बड़े घुरे नरक में पड़ते हैं।

इसके सिवाय जो धन अधर्म से इकट्ठा किया जाता है, वह बहुत समय तक ठहरता भी नहीं—जैसा आता है, वैसा ही चला जाता है। चाणक्य मुनि ने तो कहा है कि—

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति ।

प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलम् च विनश्यति ॥

चाणक्यनोति

अर्थान् अधर्म और अन्याय से जो द्रव्य उपार्जन किया जाता है, वह सिर्फ दस वर्ष ठहरता है, और ग्यारहवें वर्ष जड़मूल से नाश हो जाता है। चाहे चोरी हो जाय, चाहे आग लग जाय, चाहे स्वयं वह अधर्मी नाना प्रकार के दुराचारों में ही उसको खर्च कर दे, पर वह रहता नहीं, और न ऐसे धन से उसको सुख ही होता है। इसलिए अपने बाहुबल से, धर्म के साथ उद्योग करते हुए, जीविका के लिए धन कमाना चाहिए। उद्योगी पुरुष के लिए धन की कमी नहीं। राजर्षि भर्तृहरि कहते हैं —

उद्योगिनः पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी ।

दैव प्रधानमिति कापुरुषा वदन्ति ॥

दैवं विहाय कुरु पौरुषमात्मशक्त्या ।

यत्नेकृते यदि न सिध्यति कोऽश्रदोषः ॥

अर्थात् जो पुरुष उद्योगी है, अपने बाहुबल का भरोसा कर के सतत परिश्रम करते रहते हैं, उन्हीं के गले में लक्ष्मी जयमाल

पहनाती है, धीरे-धीरे खोग कायर भावस्थी है। मैं भाग्य का भरोसा किये बैठे रहते हैं। इस लिये भाग्य का भरोसा छोड़ कर शक्ति भर लूँ पौरुष करो। यत्न करो। यत्न करने पर यदि सफलता प्राप्त न हो तो फिर यत्न करो। देखो कि, हमारे यत्न में कहीं दोष रह गया है। उस दोष को खोज निकाल कर जब निर्दोष यत्न करोगे तब सफलता अवश्य मिलेगी। नीचे लिखे हुए गुण जिस उद्योगी मनुष्यमें होते हैं उसके पास धन की कमी नहीं रहती —

उत्साहसम्पन्नमदीर्घतुल्यं ।

विश्वविश्रितं व्यसनेष्वसक्तम् ॥

एवं कुर्वती इदमोदयं न ।

कस्मीः स्वयं वासि विवासेतोः ॥

जिस पुरुष में उत्साह भरा हुआ है जो भाग की बात समझ कर कटकर हस्ता से उद्योग करता रहता है, कार्य करने की कतुरता जिसमें है, जो व्यसनों में नहीं फैला है, जो दूर धीरे धीरे आरोग्य-शरीर है, जो किसी हुए उपकार को मानता है, जिसका हृदय ठुढ़ है और दूसरे के साथ सहृदयता का वर्तन करता है, ऐसे पुरुष के पास कस्मी स्वयं निवास करने की प्राप्ति है।

इसलिये बराबर उद्योग करते रहना चाहिये। परन्तु एक जगह बैठे रहने से भी मनुष्य धन नहीं कमा सकता। मोठि में कहा हुआ है —

विश्व विप्रं विप्रं वाक्याप्नोति भावना सम्यक् ।

वाक्यमवति न धूमो दशादशान्तरं इव ॥

अर्थात् विश्व विप्रं वाक्य कलाकीशम इत्यादि जीविका-सम्बन्धी

वातें मनुष्य को तब तक भली भाँति नहीं प्राप्त हो सकती, जब तक कि वह पृथ्वी-पर्यटन न करे, और आनन्दपूर्वक देशदेशान्तर का भ्रमण न करे। जापान, अमेरिका, जर्मनी, इङ्ग्लैंड इत्यादि जितने उन्नत देश हैं, उनके होनहार नवयुवक विद्यार्थी जब एक दूसरे के देशों में जाकर शिल्प, कलाकौशल, विज्ञान, कृषि इत्यादि की विद्या सीखकर आये हैं तब उन्होंने अपने देश को उन्नत किया है, और स्वयं भी उन्नत हुए हैं। हमारे देश के नवयुवक और व्यवसायी लोग कूप-मड़क की तरह इसी देश में पड़े रहते हैं, और विदेशियों की दलाली करने में ही अपने व्यवसाय की इतिश्री समझते हैं। इसी से हमारे देश का सारा व्यवसाय विदेशियों के हाथ में चला गया है, और हम दिन पर दिन दरिद्र हो रहे हैं। इस लिए हमारे धनवान् नवयुवकों को उचित है कि, वे उपर्युक्त उन्नत देशों में जाकर व्यापार-व्यवसाय का तरीका सीखें; और फिर अपने देश में आकर स्वदेशी व्यापार और कल-कारखाने चलावें, जिससे देश की सम्पत्ति देश में ही रहे; और हमारे देश के श्रमो लोगों को मिहनत-मजदूरी तथा उद्योग-धन्दा मिले।

धन की मनुष्य के लिए बड़ी आवश्यकता है। बिना धन कमाये न स्वार्थ होता है, और न परमार्थ। आजकल तो धन की इतनी महिमा है कि भर्तृहरि महाराज के शब्दों में यही कहना पड़ता है कि —

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः ।

स पंडितः स श्रुतवान् गुणज्ञः ॥

स एष वक्ता स च दर्शनीयः ।

सर्वे गुणाः काम्बुनमाश्रयन्ति ॥

पड़नाही है, और जो लोग कायर भावसे हैं वे भाग्य का मरोसा किये बैठे रहते हैं। इस छिप भाग्य का मरोसा छोड़ कर शक्ति भर खूब पौख्य करो। यज्ञ करो। यज्ञ करने पर यदि सफलता प्राप्त न हो तो फिर यज्ञ करो। देखो कि, हमारे यज्ञ में कच्चा बोप रह गया है। उस बोप को बोझ निकाल कर अब निर्दोष यज्ञ करोगे तब सफलता अवश्य मिलेगी। नीचे छिपे हुए शुभ जिस उद्योगी मनुष्यमें होते हैं उसके पास धन की कमी नहीं रहती —

असहस्रसम्पन्नमसीकसूत्रं ।

विवादिभिर्ज्ञं व्यसनेष्वसहस्र ॥

एवं कृत्यं वृत्तसौख्यं च ।

अस्मीः स्वयं वासि विवासेतोः ॥

जिस पुत्र्य में असाहस्र भरा हुआ है जो भाग्य की बात समझ कर बराबर इकट्ठा से उद्योग करता रहता है, कार्य करने की समुत्था जिसमें है, जो व्यसनों में नहीं फँसा है, जो दूर बीर और भारोम्य शरीर है जो किये हुए उपकार को मानता है, जिसका हृदय दृढ़ है, और दूसरे के साथ सहृदयता का वर्तण करता है, ऐसे पुत्र्य के पास अस्मी स्वयं विवास करने को माती है।

इससिध बराबर उद्योग करते रहना चाहिये। परन्तु एक मगह बैठे रहने से भी मनुष्य धन नहीं कमा सकता। मोठि में कहा हुआ है —

जिवा विचं तिर्यं वाक्यमाप्नोति मायका सम्पद् ।

वाचद्वयवति च धूमो इत्यहिकान्तरं इत्य ॥

अर्थात् विद्या द्रव्य, कछाकौशल इत्यादि जीविका-सम्बन्धी

अर्थात् कुरे रास्ते में यदि एक कौड़ी भी जानी हो तो उसे हजार मुहरों की तरह बचा लो और मौका लगने पर—किसी अच्छे काम में करोड़ों अर्शिया भी मुक्तहस्त होकर खर्च कर लो। जो उद्योगी पुरुष ऐसा करता है—अर्थात् धर्म से कमाया हुआ धन धर्म ही में खर्च करता है, उसको लक्ष्मी कभी नहीं छोड़ती। परन्तु जो मनुष्य अपनी आमदनी का खयाल न करके व्यर्थ में बहुत सा धन व्यय किया करते हैं, वे सदैव दुखी रहते हैं। क्योंकि—

क्षिप्रमायमनालोच्य व्ययमान मन्त्राख्या ।

परिक्षीयत पत्रामौ धनो वैश्रवणोपम ॥

आमदनी का विचार न करके यदि स्वच्छन्दता-पूर्वक खर्च करते रहें, तो कुवेर के समान धनी भी निर्धन दण्डिया बन जायेंगे।

इसलिए प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि, अपने अनुकूल उचित जीविका को ग्रहण करके, अपने पुरुषार्थ और बाह्यक से, धर्म के साथ, धन कमावे, परस्त्री और परधन को हर्षण करने की कभी इच्छा न करे।

मातृवश्च परदारेषु परव्येषु लोष्टवत् ।

आत्मवत् सर्वभूतेषु य पश्यति मपेक्षित ॥

जो दूसरे की स्त्री को माता के तुल्य और दूसरे के धन को मिट्टी के ढेले के तुल्य देखता है, और सब प्राणियों का दुःख-सुख अपने ही दुःख-सुख के समान देखता है वही सच्चा प्रियेकी पुरुष है।

जिसके पास धन है वही मनुष्य कुलीन है, वही पंडित है, वही मनुमयी है वही गुणवत् है वही बलवान है वही ईर्ष्याहीन सुन्दर है, सब गुण एक कांक्षन में ही बसते हैं। और जिसके पास धन नहीं है -

माया निवृत्ति नास्ति निवृत्ति विना आया न सम्भासत ।

पुनश्च कुम्पति बाहुगच्छति छटा कान्ता न नास्तिद्वेते ॥

अन्धधार्वाचनकथा न कुप्यते सम्माकर्ण्य वे चक्षुर् ।

जन्माह्वा ज्वरमुपाचर्य ननु कस्य ज्वरेण सर्वे जनाः ॥

इसको माया गाड़ियाँ दिया करती हैं किता इसको देखकर प्रसन्न नहीं होता भाई छोप बात नहीं करती, नौकर लोग भ्रमग ही मुँह बनाये रहते हैं लड़के इसका कहना नहीं मानते, ली भ्रमग करती रहती हैं मित्र लोग यदि मार्ग में सामने पड़ जाते हैं, वो इस शंका से मुँह फेर डिते हैं कि, कहीं कुछ मांग न पड़े—छीन्ने बात नहीं करते। इसलिये मित्रो सुनो धन कामाधो। क्योंकि धन के ही रूप में सब है।

धन कामाधो तो सही, पर उसका उपयोग भी जानो। क्योंकि यदि कामाया, और उसका उचित विविधोग न किया तो व्यर्थ है। संसार में प्रायः बहुत छोप पैसे ही हैं, कि जो धन कामाकर या तो उसे संवित ही रखते हैं, अथवा फिज्जुबकीर्ती में उड़ा देते हैं। दोनों बाले बराब हैं। धन को मौका देन कर न्यूनतमिक कर्ष करना चाहिए। नीति में कहा है :—

या काकिनीन्यवयवधर्या ।

समुदरनिष्कसहस्रमुखाय ॥

कावेपुच्छोदित्वसि ह्युग्रस्ता ।

तं राक्षसिह न उदरसि कथ्यते ॥

अर्थात् बुरे रास्ते में यदि एक कौड़ी भी जाती हो तो उसे हजार मुहरों की तरह बचा लो, और मौका लगने पर—किसी अच्छे काम में करोड़ों अशर्फिया भी मुक्तहस्त होकर खर्च कर लो। जो उद्योगी पुरुष ऐसा करता है—अर्थात् धर्म से कमाया हुआ धन धर्म ही में खर्च करता है, उसको लक्ष्मी कभी नहीं छोड़ती। परन्तु जो मनुष्य अपनी आमदनी का खयाल न करके व्यर्थ में बहुत सा धन व्यय किया करते हैं, वे सदैव दुखी रहते हैं। क्योंकि—

क्षिप्रमायमनालोच्य व्ययमान स्ववाच्या ।

परिक्षीयत एवासौ धनी वैश्रवणोपम ॥

आमदनी का विचार न करके यदि स्वच्छन्दता-पूर्वक खर्च करते रहें, तो कुवेर के समान धनी भी निर्धन दरिद्री बन जायेंगे।

इसलिए प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि, अपने अनुकूल उचित जीविका को ग्रहण करके, अपने पुरुषार्थ और बाहुबल से, धर्म के साथ, धन कमावे, परस्त्री और परधन को हरण करने की कभी इच्छा न करे।

मातृवत् परदारेषु परद्वयेषु लोष्टवत् ।

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥

जो दूसरे की स्त्री को माता के तुल्य और दूसरे के धन को मिट्टी के ढेले के तुल्य देखता है, और सब प्राणियों का दुख-सुख अपने ही दुख-सुख के समान देखता है वही सचा विवेकी पुरुष है।



५-शौच

शौच का अर्थ है शुद्धता । शुद्धता दो प्रकार की है । एक बाहर की शुद्धता । दूसरी भीतर की शुद्धता । बाहर की शुद्धता में शरीर, वस्त्र स्नान इत्यादि की शुद्धता आती है, भीर भीतर की शुद्धता में मन या आत्मा की शुद्धता आती है । मनु महाराज ने एक श्लोक में बाहरी-भीतरी शुद्धता के साधन, धोड़े में बहुत अच्छी तरह बताया दिये हैं । वह श्लोक इस प्रकार है —

अभिर्याजानि कुप्यन्ति नवाः प्रत्येक कुप्यन्ति ।

विषाक्षोष्वा मृगात्मा हविर्बलिं कुप्यन्ति ॥

मनु

अर्थात् शरीर वस्त्र, स्नान इत्यादि बाहरी चीजें पानी मिट्टी (या साबुन गोबर) इत्यादि से शुद्ध हो जाती हैं । मन सत्य से शुद्ध होता है । विषा भीर तप से आत्मा शुद्ध होती है, भीर बुद्धि बलि से शुद्ध होती है ।

मनुष्य की बाह्य कि वह नित्य कुछा-बातुन करके मुँह को भीर शुद्ध कुछे कुछ से स्नान करके अपने सब अंगों को साफ रने । शरीर की मखीनता से नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं । कपड़ा साफ पहनना बाह्य । मोटे कपड़े से शरीर की सब अङ्गुओं में रक्षा होती है । जहाँ तक हो सके, कम वस्त्र पहना, भीर सफेद रंग का ही कपड़ा पहनो । सफेद रंग का कपड़ा पहनने से मैला होने पर वह तुरन्त ही माझूम हो जाता है, भीर उसे साफ करके धो सकते हैं, पर रंगीन कपड़ा जिसको "मैकजारा" कहते हैं कभी मत पहनो । कई लोग कपड़ा मैला न हो इसी कारण रङ्गीन पहनते हैं, पर वह

चाल अच्छी नहीं। रङ्गीन कपड़े में मैल खपता रहता है, और फिर वही शरीर के लिए हानिकारक होता है।

शरीर और वस्त्रों की सफाई इस विचार से न रखो कि, तुम देखने में सुन्दर लगो, पर इस विचार से रखो कि, तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छा रहे, और तुम्हारा चित्त प्रफुल्लित रहे। क्योंकि शरीर और कपड़े साफ रहने से दूसरे पर चाहे जो क्योंकि शरीर और कपड़े साफ रहने से दूसरे पर चाहे जो असर पड़ता हो, अपने चित्त को ही प्रसन्न होती है। मन में उत्साह बढ़ता है, जिससे मनुष्य के सत्कार्यों में उसको सफलता मिलती है।

यही बात स्थान की सफाई के विषय में भी कही जा सकती है। जगह चाहे थोड़ी ही हो, लेकिन साफ-सुथरी और हवादार हो। अपने अपने स्थान की चीजें ठीक तौर से, जहाँ की तहाँ, सफाई के साथ, रखो हुई हों। इस बाहर की सफाई का शरीर की आरोग्यता और चित्त की प्रसन्नता पर बड़ा अच्छा असर पड़ता है, और ये दो बातें ऐसी हैं कि जिनका मनुष्य के धर्म से बड़ा गहरा सम्बन्ध है।

एक और सफाई का मनुष्य को ध्यान रखना चाहिए; और वह सफाई है—पेट के अन्दर की मलशुद्धि। प्रायः देखा जाता है कि, लोग अपने बालकों को प्रातः काल शौच जाने की आदत नहीं डलवाते। लड़के उठते ही खाने को मागते हैं, और भूख माताएँ, बिना शौच और मुख-माजन के ही, लाड़-प्यार के कारण, उनको कलेऊ खाने को दे देती हैं। पेट का मल साफ न होने के कारण रक्त दूषित हो जाता है, और शरीर रोग का घर बन जाता है। इस लिए प्रातः काल शौच जाने की आदत जरूर डालना चाहिए, और इस बात का ध्यान रखना

बाह्य कि, जो कुछ मोहन किया जाता है, वह पक्कर उसका मल रोज़ का रोज़, नियमानुसार निकलता रहता है, या नहीं।

ये तो ज़रूर शौच की बातें हुईं। अब हम भीतरी शुद्धता के विषय में कुछ सिरेंगे। वास्तव में भीतरी शुद्धता पर ही मनुष्य का जीवन बहुत कुछ अवलम्बित है। क्योंकि उसका सम्बन्ध मन बुद्धि और आत्मा की पवित्रता से है। जब तक मनुष्य का मन बुद्धि और आत्मा पवित्र नहीं हैं, तब तक बाहरी शुद्धि का सम्बन्ध तो बिरोध कर शरीर से ही है। और शरीर भी केवल बाहरी शुद्धि से उतना लाभ नहीं उठा सकता जबतक मन बुद्धि और आत्मा पवित्र न हो।

मन की शुद्धि का साधन महर्षि मनु ने 'सत्य' कहाया है। जो मनुष्य सत्य ही बात मन में सोचता है, सत्य ही बात मुख से निकालता है, और सत्य ही कार्य करता है, उसका मन शुद्ध रहता है। वास्तव में मन हो मनुष्य के कर्म्म और मोक्ष का कारण है। क्योंकि भुक्ति में कहा है कि—

कर्मन्ता जायति ध्याता ज्ञति ।

ध्याता व्रति कर्मन्ता करोति ।

कर्मन्ता करोति ज्ञानिबन्धनः ।

अर्थात् मनुष्य जिस बात का मन से ध्यान करता है, वही को बाबा से कहता है, और जिसका बाबा से कहता है, वही कर्म से करता है, और जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल मिलता है। इस लिए सत्य का ही ध्यान करना चाहिए, जिससे मन, बचन और कर्म पवित्र हो।

जैसे मनुष्य का मन सत्य से शुद्ध होता है, वैसे ही उसकी आत्मा विद्या और तप से शुद्ध होती है। आत्मा कहते हैं जीव

को । जब मनुष्य विद्या का अध्ययन करता है , और तप करता है—अर्थात् सत्कर्मों के लिए कष्ट सहता है, तब उसका जीव या आत्मा पवित्र हो जाती है । उसके सब सशय दूर हो जाते हैं ।

आत्मा की शुद्धि के साथ बुद्धि भी शुद्ध होनी चाहिए । सो बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है । क्योंकि ज्ञान के समान इस ससार के और कोई वस्तु पवित्र नहीं हैं । गीता में भगवान् श्रीकृष्णने ज्ञान की महिमा वर्णन करते हुए कहा है —

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्पर सयतेन्द्रिय ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

गीता

अर्थात् ज्ञान (जीव, सृष्टि और परमात्मा का ज्ञान) उसी को प्राप्त होता है, जो श्रद्धावान् होता है, ज्ञान में मन लगाता है ; और इन्द्रियों का सयम करता है । और जहाँ एक बार मनुष्य ने ज्ञान प्राप्त कर लिया, कि फिर वह परम शान्ति को पाता है । परम शान्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य की बुद्धि पवित्र होकर स्थिर हो जाती है । उस दशा में कोई बुरी बात मनुष्य के मन में आती ही नहीं । जो जो कार्य उसके द्वारा होते हैं, सब ससार के लिए हितकारी होते हैं ।

जैसा कि हमने ऊपर बतलाया, मनुष्य को अपना शरीर, मन, आत्मा, बुद्धि, इत्यादि पवित्र रखते हुए भीतर-बाहर शुद्ध रहने का बराबर प्रयत्न करते रहना चाहिए । शुभ गुणों की वृद्धि और अशुभ गुणों का त्याग करने से मनुष्य भीतर-बाहर शुद्ध हो जाता है और लोक-परलोक दोनों में उसको सुख मिलता है ।

६-इन्द्रिय-निग्रह

मनुष्यके शरीरमें पञ्चात्मामें दस इन्द्रियाँ ही हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ये हैं — (१) आँख, (२) कान, (३) नाक, (४) रसना अर्थात् जिह्वा (५) त्वचा अर्थात् त्वचा। इन पाँचों इन्द्रियोंसे हम विषयोंका ज्ञान प्राप्त करते हैं—जैसे आँखसे मछल-पुच्छ रूप वैभवा काजसे कोमल-कठोर शब्द सुनना नाकसे सुगन्ध सुगन्ध सुधना रसनासे स्वाद कलना त्वचासे कठोर अथवा मुकायम कीजका स्पर्श करना प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियका एक एक सहायक वैभवा भी है। इसी वैभवासे दस इन्द्रियके विषयकी उत्पत्ति होती है जैसे आँखका विषय रूप है यह अग्नि अथवा सूर्यका गुण है। सूर्य या अग्नि यदि न हो तो हमारी आँख-इन्द्रिय किछकुछ बेकार है। इसी प्रकार कानका विषय शब्द है। यह आकाशका गुण है। आकाश ही के कारण शब्द उठता है। नाकका विषय गन्ध है। गन्ध पृथ्वीका गुण है। जीमका विषय रस है, जो जलका गुण है और त्वचा का विषय स्पर्श है। यह वायुका गुण है। ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और उनके विषय प्रधान हैं। अब पाँच कर्मेन्द्रियोंको छीजिए—

(१) बाजी, (२) हाथ, (३) पैर, (४) लिंग, और (५) गुदा। बाजी से हम चालते हैं। यह भा जिह्वा ही है। जिह्वा में पञ्चात्मा में ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों की शक्ति है। स्वाद भी चपते हैं, और चोखते भी हैं। हाथ से कार्य करते हैं। पैर से चालते हैं। लिंग से मूल छोड़ते हैं। और गुदा से मल निकालते हैं।

ज्ञान-इन्द्रियाँ ईश्वर में हमारे शरीर में ऊपर की ओर

बनाई हैं, और कर्मेन्द्रिया नीचे की ओर—इससे ईश्वर ने ज्ञान को प्रधानता दी है, और हमको बतलाया है कि, ज्ञान के अनुसार ही कर्म करो। अस्तु। हमारी आत्मा मन को संचालित करके इन्द्रियों के द्वारा सब विषयों का भोग भोगती है। उपनिषदों में इसका बहुत ही अच्छा रूपक बाधा गया है।

आत्मानं रथिन विद्धि शरीर रथमेव तु।

बुद्धि तु सारथि विद्धि मन प्रग्रहमेव च ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान्।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्त भोक्तेत्याहुर्मनोपिण ॥

कठोपनिषद्

यह शरीर एक रथ है, जिसका रथी, अर्थात् इस पर आरुढ़ होनेवाला, इसका स्वामी, जीवात्मा है। जीवात्मा इस शरीर-रूपी रथ पर बैठ कर मोक्ष को प्राप्त करना चाहता है। अब, रथ में घोड़े चाहिए। सो दसों इन्द्रिया इस रथ के घोड़े हैं। अब घोड़ों में बागडोर चाहिए, सो मन ही इन घोड़ों की बागडोर है। रथ होगया, रथी होगया, घोड़े हो गये, घोड़ों की बागडोर होगई, अब उस बागडोर को पकड़कर घोड़ों को अपने वश में रखते हुए रथ को ठीक स्थान में, परमात्मा या मुक्ति की ओर, ले जानेवाला सारथी चाहिए। यह सारथी बुद्धि या विवेक है। अब इन्द्रियरूपी घोड़ों के चलने का मार्ग चाहिए। यह मार्ग इन्द्रियों के विषय हैं, क्योंकि विषयों की ही ओर इन्द्रिया दौड़ती हैं। इस लिए जो ज्ञानी पुरुष हैं, वे बुद्धि या विवेक के द्वारा इन्द्रियों की बागडोर मन को बड़ी दृढ़ता से अपने हाथ में पकड़कर, उनको उनके विषयों के रास्ते में इस ढङ्ग से ले चलते हैं, कि जिससे वे सुखपूर्वक ईश्वर के समीप पहुँचकर मुक्ति की प्राप्ति करते हैं।

इन्द्रिय मित्र का सिर्फ इतना ही मतलब है कि, इन्द्रियों की तरह से अपने-अपने विषयों की ओर न भगने पारें। जिसकी जिस विषय की आवश्यकता है, वतना ही उस विषय को ग्रहण करें। विषयों में कुरी तरह से फँसकर—बेतहाशा विषयों के मार्ग में भगकर इस शरीरकपी रथ को ठोड़-फोड़ कर नष्ट न कर डालें। यदि इन्द्रियाँ इस प्रकार कुमार्गी पर भरोगी तो रथ रथी सारथी बागडोर हत्यादि सब नष्टनष्ट हो जायेंगी। इसलिये बुद्धि या विवेक कपी सारथी को सर्वत्र सचेत रखो। वही इन इन्द्रियकपी बच्चों घोड़ों का मित्र कर सकता है।

कई लोग इन्द्रिय मित्र का अर्थ कुछ खट्वा अर्थ न समझ कर इन्द्रियाँ को ही मारने की कोशिश करते हैं। परन्तु इन्द्रियों का तो म्यमात्र ही है कि वे अपने-अपने विषयों की ओर झुकती हैं। जब तक इस शरीरमें आत्मा मन और इन्द्रियाँ हैं, तब तक विषय उनसे छूट नहीं सकते। बाकी मित्र कुछ काम नहीं कर सकता। जो केवल मित्र से ही काम लेना चाहते हैं—विवेक या बुद्धि का उससे साथ नहीं रखते हैं, उनका मन विषयों से नहीं छूटता है। मन तो उनका विषयों की ओर झुकता ही है, परन्तु केवल इन्द्रियों को वे बचाना चाहते हैं। ऐसे लोगों को भगवान् कृष्ण ने धीला में पालंडी कहसाया है —

कर्मिन्द्रियाणि संयम्य न आसते मनसा स्मरन् ।

इन्द्रियाणीन् विदुस्तप्ता मिथ्याचारा न कथ्यन्ते ॥

गीतासप्तमोऽध्यायः

जो मूर्ख ऊपर ऊपर से कर्मिन्द्रियों का संयम करके मन से विन

रात विषयों का चिन्तन किया करता है, वह पाखण्डी है। इस लिए विवेक से मन का ही दमन करना चाहिए। ऐसा करने से इन्द्रिया विषयों में नहीं फसती। भगवान् मनु ने स्पष्ट कहा है —

वशो वृत्तेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।

सर्वान् संसाधयेदर्धानाक्षिण्वन् योगवत्सनुम् ॥

मनु०

अर्थात् पाच ज्ञानेन्द्रिय और पाच कर्मेन्द्रिय और ग्यारहवें मन को भी वश में करके इस प्रकार से युक्ति के साथ धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का साधन करे कि जिससे शरीर भी क्षाण न होने पावे। व्यर्थ में शरीर को कष्ट देनेसे इन्द्रियों का निग्रह नहीं हो सकता। यदि विवेक के साथ शुकाहारविहार को ही इन्द्रिय-निग्रह कहते हैं। इन्द्रियों के जितने विषय हैं, उनका सेवन करनेसे कोई हानि नहीं है, परन्तु धर्मकी मर्यादा से बाहर नहीं जाना चाहिए। यदि मनुष्य विषयों में फँस जायगा, तो जरूर धर्म की मर्यादा से बाहर हो जायगा और अपना लोक-पगलोंक गिराडेगा। ऐसे ही लोगों के लिए महाभाग्न में कहा है —

तिन्नोदृशतेऽप्राज्ञ करोति विषसं वटु ।

मोदगागस्तापान्ता इन्द्रियार्थवशानुग ॥

महाभारत. पनपथ ।

करनेके लिए पर्याप्त है। फिर यदि पाँचों विषय अपना अपना काम इन्द्रियों पर करने समर्थ तो फिर उसके गन्ध होनेमें क्या शङ्केह ? किसी कवि ने कहा है—

सुर्य मातृय पतय चन्द्र ।

मीना इच्छा पंचमिष पंच ॥

वृक्ष प्रमादी स कर्म न हन्ते ।

वा सन्ते पंचमिष पंच ॥

अर्थात् हरिण व्याघ्र की बांसुरी की सुन्दर तान सुनकर मारा जाता है, हाथी सुबुल घास से पूरे हुए गन्धे में लेटकर स्वर्ण सुख का अनुभव करनेमें लीये पस आता है, पतिंगा वीषक का सुन्दर रूप देख कर अन्न मग्या है, मीरा रस के सोम में भाकर कंठकों से विह्व होकर अपने प्राण देता है, मछली पंशो में लगी हुए मांस के टुकड़े की गन्ध पाकर उसकी ओर भाक पिट होती है, और पंशी को निगलकर अपने प्राण देती है। ये प्राणी एक ही एक इन्द्रियविषय में रसकर नष्ट होते हैं, फिर मनुष्य जो शत्रु, स्वर्ण रूप रस और गंध इन पाँचों विषयों का दास हो आप तो वह क्यों नहीं नष्ट होगा ?

इस लिए मनुष्य को इन विषयों का दास नहीं होना चाहिए, बरिन् विषयों को अपना दास बनाकर रखना चाहिए। जो पुरुष अस्तेमित्र होते हैं, ये विषयों का, उचित मात्रा में और धर्मकी मर्यादा रखते हुए, सेवन करते हैं। और प्रिय अथवा अप्रिय विषय पाकर मन में हर्ष-शोक नहीं मालते। मनुष्य कहते हैं :—

शुभा लब्ध्वा च हृत्वा च सुखा प्राप्तवा च नो भय ।

न हन्ति राजन्ति वा त विप्रो जितन्द्रिया ॥

अर्थात् निन्दास्तुति, अथवा मधुर शब्द या कठोर शब्द, सुनने से, कोमल या कठोर वस्तु के स्पर्श करनेसे सुन्दर अथवा कुरूप वस्तु देखने से, सुन्दर सरस अथवा नीरस कुस्वादु भोजन से, सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध पदार्थ सूंघने से आनन्द अथवा खेद न हो, दोनों में अपनी वृत्ति को समान रखे, वहीं मनुष्य जितेन्द्रिय है।

जितेन्द्रिय पुरुष ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। विषयों में फँसा हुआ मनुष्य दुर्गति को प्राप्त होता है।

७—धी

ईश्वर ने जितने प्राणी ससार में पैदा किए हैं, उन सब में मनुष्य श्रेष्ठ है। मनुष्य क्यों श्रेष्ठ है? उसमें ऐसी कौन सी बात है, जो और प्राणियों में नहीं है? आहार, निद्रा, भय, मैथुन, इन चार बातों का ज्ञान मनुष्य को है, उसकी तरह अन्य प्राणियोंको भी है। परन्तु एक बात मनुष्य में ऐसी है, जो अन्य प्राणियों में नहीं है। और वह बात है—बुद्धि या विवेक। इसी को मनुजी ने धी कहा है। मनुष्य को ही परमात्मा ने यह शक्ति दी है कि, जिससे वह भली-बुरी बात का ज्ञान कर सकता है। किस मार्गसे चलें, जिससे हमारा उपकार हो, और दूसरों को हानि न पहुँचे? किस मार्ग से चलें, जिससे हमारा भी उपकार हो, और दूसरों का भी उपकार हो? यह विवेक मनुष्य को ही परमात्मा ने दिया है। उसने मनुष्य को बुद्धि दी है, जिससे वह दूसरे प्राणियों के मन की बात जान सकता है। उसको यह ज्ञान है कि, जिस वान में वह

को सुख होता है उससे दूसरेको भी होता है, और जिस पाप से हमको कष्ट होता है उससे दूसरों को भी कष्ट होता है। इन सब पापों को सोचकर ही वह संसार में घटता है। और यदि यह बिप्रेक और यह बुद्धि मनुष्य में न हो तो पशु में भी मनुष्य में कोई अन्तर नहीं। छुण भगवान् ने गीता में बुद्धि भी तीन प्रकार की बतलाई है :—

प्रवृत्ति च निवृत्ति च कार्याकार्मे भवाभवा ।
 कर्म मोक्षं च वा वेति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी ॥
 कथा कर्ममयमं च कार्यं चाकार्मिकं च ।
 अवधानं ब्रह्मावधि बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥
 अकर्म कर्ममिति वा मन्वाद्य उन्मत्तादृता ।
 मर्षाणां निरपीठारथ बुद्धिः सा पाथ तामसी ॥

गीता अ १८

जिस काम में दिन हागा जिससे भहित हागा, क्या काम करना चाहिये, क्या न करना चाहिये, भय कौन सी चीज़ है, और निर्मयता क्या है कल्पन जिस बातों से हाता है, और कर्मव्रता या मोक्ष जिस बातोंसे मिलतो है—यह जिनसे जाना जाता है वह उत्तम, धर्मान् सात्विकी बुद्धि है। इसी प्रकार जिस बुद्धि से धर्म अधर्म और कार्य-अकार्य का कुछ ठीक ठीक ज्ञान नहीं हाता—सम में भाकर सब काम करता है, मायवश बाटे कोई ज्ञान कल्याणकारी हो जाये—यसी बुद्धि राजसी कर्मवर्ती है, और जो बुद्धि अधर्म को धर्म मानती है तथा तमागुण के प्रभाव के कारण जो बुद्धि सब कामों को बसता ही समझती है, वह तामसी बुद्धि है।

जो तमागुणी बुद्धि का धारण करता है, वही सदा बुद्धि

मान है। महाभारत में व्यासजी ने बुद्धिमान मनुष्य का लक्षण इस प्रकार दिया है —

धर्ममर्थं च कामं च ग्रीनेतान् योज्जुपश्यति ।

अर्थमर्थानुबन्धं च धर्मन्वर्मानुबन्धनम् ॥

कामं कामानुबन्धं च विपरीतान् पृथक् पृथक् ।

यो विद्विन्त्य धिया धीरो व्यवस्यति स बुद्धिमान् ॥

महाभारत, आदिपर्व

धर्म, अर्थ, काम, तीनों का जो अच्छी तरह विचार करता है—देखता है कि अर्थ क्या है, और किस प्रकार से सिद्ध किया जाय, धर्म क्या है, और उसके साधन क्या हैं, तथा काम क्या है, और उसको किस प्रकार से सिद्ध करें, तथा ऐसे कौन कौन से विघ्न हैं कि, जिनके कारण से हम इन तीनों पुरुषार्थों को भली भाँति सिद्ध नहीं कर सकते। इस बात को जो धीर पुरुष अपनी बुद्धि से विचारता है, वही बुद्धिमान है।

बुद्धिमान मनुष्य प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक प्राणी की परीक्षा कर के उसके हृदय में पैठ जाता है, और जिस प्रकार जो मानता है, उसी प्रकार उसको वश में कर लेता है। वह कभी किसी का अप्रिय आचरण नहीं करता। अपनी उन्नति करता है, पर दूसरे की हानि नहीं होने देता। व्यासजी कहते हैं —

न वृद्धिर्बहुमन्तव्या या वृद्धि क्षयमाधेहत् ।

क्षयोऽपि बहुमन्तव्यो य क्षयो वृद्धिमाधेहत् ॥

—म० भा०, उद्योगपर्व

जिस उन्नति से दूसरे की हानि हो, वह वास्तव में उन्नति नहीं, वास्तविक उन्नति तो वह है कि, जिससे दूसरे का लाभ हो, चाहे अपनी कुछ हानि हो जाय, तो भी परवा नहीं।

परन्तु धाम्निव में बिना सोचे विचारें कोई भी काम नहीं करना चाहिए । किसी कथि में कहा है —

गुणवशुपवशा कुर्यता कार्वमासी
परिजतिरवपाशो बन्धनः वेदितम् ।
अतिरमन्कृताशो धर्मनामाविरत-
भवंति हृदयशही शरन्कुल्या विराज ॥

अपान् भद्रा गुण वशा ही पापें करना हा बुद्धिमान एग पहलें उमका मर्ताजा मर्ती भाति सोच लेलें हैं, क्योंकि बिना विचारें जा काय जन्मीमें किया जाता है उसका पत्र हात्य की तरह हृदय का गुणदायक होला है ।

जा पात भवनी रामक में न भापे, उसको गूद और पिछान् मार्ग ॥ गूटना पादिए । दितापद्वारमें कहा है :—

प्रणादुर्ध्वं धर्मदुर्ध्वं कश्चिदपुम् ।
विद्यादुर्ध्वं वचना वापि वृद्धम् ॥
काशोद्यमे वृत्तिश्च प्रमाथ ।
नः संतुष्टो न मुच्येत् कदाचित् ॥

जप काई काम हमका करना हा अपरा न करना हा, नप भवन भाई-पद्वारि जा हमारे विद्या बुद्धि धर्म और भवगा में गूद हा गम्मान और दैवगुणक गूटना पादिए । एगका प्रमाथ करके उनकी गम्माह न जा मनुष्य काम करता है एह कर्मी मात भवगा सुम में नही रहना ।

जा मनुष्य विवेक्याग और बुद्धिमान होला है, नर भान पाई लंकर का गुण ही जाकर उग का रोहन का उगाप बनता है । भारी पा भवगा बिदे पेडा नही गला । एह भागो वेद एगन की उगाह दैवकर गीति का वेद बहाना है, गदगा बिना विचारें काई काय नही करना । नीति में कहा है :—

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निपेक्षते ।

ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुव नष्टमेव हि ॥

जो स्थिर वस्तु को त्यागकर अस्थिर के पीछे दौड़ता है, उसका स्थिर वस्तु भी नाश हो जाती है, और अस्थिर तो नाश है ही । इसलिए खूब सोच-समझ कर किसी काम में हाथ लगाना चाहिए । महाभारत में कहा है .—

समश्रिते सुविक्रान्ते स्रुते सुविचारिते ।

सिञ्च्यन्त्यर्था महाबाहो देव चात्र प्रदक्षिणम् ॥

महाभारत, वनपर्व ।

जो कार्य स्वयं अच्छा होता है, और अच्छी तरह से सोच समझ कर, तथा बड़ों से सलाह लेकर किया जाता है और उसमें खूब परिश्रम भी किया जाता है, वह कार्य सिद्ध होता है, और ईश्वर तथा भाग्य भी उसी के अनुकूल होता है । सोच-समझ कर किया हुआ कार्य ही स्थायी होता है । इस विषय में नीति में कहा है —

सजीर्णमन्नं सुविवक्षणं सुत

सशासिता स्त्री नृपतिं सुसेवित् ।

सचिन्त्यं चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं

सदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ॥

खूब अच्छी तरह पचा हुआ अन्न, बुद्धिमान लड़का, अच्छी तरह सिखाई हुई स्त्री, भली भाँति प्रसन्न किया हुआ राजा, विचारपूर्वक कही हुई बात, विवेकपूर्वक किया हुआ कार्य, ये बहुत काल तक बिगड़ नहीं सकते—ठीक वने रहते हैं ।

बुद्धिमान पुरुषों को जो कार्य करना होता है, उसको वे पहले प्रकट नहीं करते जब कार्य हो जाता है, तब आप ही आप

साग उम ज्ञान मिल है। इस विषय में महामारल उपागपय
में पढ़ा है -

अभिषेक्य प्रभाषत कृष्णान्वर तु वस्येत् ।

पर्यङ्कामार्गकाशीनि तथा मग्धो न भिष्यत् ॥

कस्य कृष्णं न आनमिन् मग्धं वा मन्त्रिन् वी ।

कृष्णवाक्यं काममि न वे वरिण उच्यते ॥

आ काय कामा हा उरका कहना नहीं चाहिये, आ कर सुखे है
उरका कहने में कोई भय नहीं। धर्म धर्म काम इत्यादि
सांसारिक पुण्याधों के विना काय है उरका सुख ही रक्ता
चाहिए। अब हा आपन सब भाव ही प्रकट हो जायेंगे। हमी
प्रकार उनक साक्ष्य के सब सुख विचार भा कामी प्रकट न होने
देना चाहिये। धम्मसिद्ध में बुद्धिमान् अनुभव पढ़ा है कि विगत
सुख विचार तथा दूसरे का भा बनवाई हुई सुख बात कोई भी
न जान सके। हा आ कार्य पद कर सुख हा, उरका भवे ही
कोई ज्ञान मिले।

बिना बिना बाला का बुद्धिमान् अनुभव का बार बार विचार
करने रहना चाहिये, इस विषय में धम्मसिद्ध मुनि का धर्म का
रक्त माय है -

६ काठ दर्शन विचारि का रक्त का उपपाय ।

उरका का वीर सवि। इति विम्वं सुसुह ॥

सम्पन्न व ता वल पढ़ा है ? हमारे अनुभव काम है ? देना कीम
भीर व ता है ? आसक्तता भीर लय पढ़ा है ? हम कीम है ?
हमारे दर्शन पढ़ा है ? विम्वं दर्शन हमी है ? हम सब कामों
के विषय में अनुभव का साक्षात् विचार करने रहना चाहिये।

८—विद्या

विद्या का अर्थ है जानने की बात । ससारमें जितनी चीजें हमको दिखलाई देती हैं, और जो नहीं दिखलाई देती, सब जानने की बात हैं । सब का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । सृष्टि से लेकर ईश्वर पर्यन्त सब का ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य की भीतरी आँखें खुल जाती हैं । परन्तु यदि अधिक न हो सके, तो अपनी शक्ति भर, जहाँ तक हो सके, विद्या और ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य का कर्त्तव्य है । किसी कवि ने कहा है कि—

अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्या,

एतद्विद्यया कालो बहुविघ्नता च ।

यत्प्रामाण्यं तदुपासनीयं,

इत्यर्थं क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥

अर्थात् शास्त्र अनन्त हैं । विद्या बहुत है । समय बहुत थोड़ा है । विघ्न बहुत हैं । इसलिए जो सारभूत है, वही उपासनीय है, जैसे हम पानी में से दूध ले लेता है ।

इस लिए अपनी शक्ति भर माता-पिता को अपने बालकों को विद्या अवश्य पढ़ानी चाहिए । चाणक्यनीति में कहा है —

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।

न शोभते समामध्ये इसमध्ये वको यथा ॥

अर्थात् जो माता-पिता अपने बालकों को विद्याभ्यास नहीं कराते, वे शत्रु हैं । उनके बालक बड़े होने पर सभा में अपमानित होते हैं, और ऐसे कुशोभित होते हैं, जैसे हसों के बीच में बगुला ।

अनक माना पिता अपना बाळकों का मोह में धाकर, बाड़ प्यार में डाले गयन है। लड़का ८, १० वर्ष का बड़ा हो जाता है फिर मा झूठे प्रेम में धाकर उसका नाम नहीं सुघारते हैं और मोह में धाकर कहते हैं, “पड़ बैगा मर्मा बधा है।” परन्तु वे नहीं समझते कि, हम बाड़ प्यार में धाये होकर बच्चे का जीवन पराध कर रहे हैं। श्रेय में पड़ कर उनको ‘श्रेय’ का ध्यान ही नहीं रहता। श्रेय कहते हैं उसको जो पहले तो प्रिय मातृम होता है, परन्तु पीछे से प्रिय का काम करता है और श्रेय उसका कहने हैं, जो पहले कष्टदायक मातृम होता है। पर पीछे से उसमें हिन होता है। लड़कों का प्यार जो एक ऐसी ही बीज है जो पहले तो माता पिता इत्यादि को मोह के कारण प्रिय मातृम होता है, पर पीछे से वही लड़के अब उड़ण्ड बन जाते हैं, तब माता पिता और सब का दुख होता है। इस स्थि पाणिनी मुनि ने लिखा है —

मायनेऽपि विदितं नित् गुरुषो न विनाशिनौ ।

नाकामाश्रितो दासस्तादनाश्रितो गुणः ॥

अपान जो माना पिता और गुरु अपनी सन्तान और शिष्यों का शान्त करने हैं, वे मागों अपनी सन्तान और शिष्यों का असुख पिमा रह हैं, और जो उनका बाड़-प्यार करते हैं, वे उनका माना प्रिय पिमाकर नष्ट-स्रष्ट कर रहे हैं; क्योंकि बाड़ प्यार ही सन्तान और शिष्यों में अनेक श्रेय धा जाते हैं, और ताड़न न उनमें गुण जाते हैं।

बाळकों का भी बाह्य कि वे ताड़ना से प्रसन्न और बाड़ प्यार से दुःख रहें। परन्तु माना पिता गुरु इत्यादि का ध्यान रहना बाह्य कि वे श्रेय में धाकर उनका ताड़न न करें,

किन्तु भीतर से उन पर कृपा-भाव रखकर ऊपर से उन पर कठोर दृष्टि रखें ।

अस्तु । विद्या पढ़ने-पढ़ाने में उपयुक्त बातका ध्यान अवश्य रखना चाहिए । और इसी लिए हमने इस पर विशेष जोर दिया है । मनुष्य को विद्या की बड़ी आवश्यकता है । इसलिए नहीं कि, सिर्फ अपना जीविका चलाकर अपना पेट भर ले , बल्कि इस लोक और परलोक के सब कर्तव्यों को करते हुए अपने देश का भी उपकार कर सके । विद्या की महिमा वर्णन करते हुए किसी कवि ने बहुत ही ठीक कहा है —

विद्यानाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नं गुप्तं धनम् ।

विद्या भोगकरी यशं सुखकरी विद्या गुरुणा गुरु ॥

विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं देवतम् ।

विद्या राजस पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनं पशु ॥

अर्थात् विद्या मनुष्य का बड़ा भारी सौन्दर्य है । यह गुप्त धन है । विद्या भोग, यश और सुख को देनेहारि है । विद्या गुरुओं का गुरु है । विदेश जाने पर विद्या ही मनुष्य का बन्धु सहायक है । विद्या एक सर्वश्रेष्ठ देवता है । विद्या राजाओं के लिए भी पूज्य है । इसके समान और कोई धन नहीं । जो मनुष्य विद्या से विहीन है, वह पशु है ।

विद्या-धन में एक बड़ी विशेषता और भी है । वह यह कि, यह खर्च करने से और भी बढ़ता है । दूसरे धन खर्च करने से घटते हैं, परन्तु इसकी गति उलटो है । यदि विद्या दूसरे को दान न की जाय—पढ़ने-पढ़ाने का क्रम जारी न रखा जाय, तो यह भूल जाती है । और यदि पढ़ना-पढ़ाना जारी रखा जाय, तो इसकी और वृद्धि होती जाती है । इसी पर एक कवि ने बड़ी अच्छी उक्ति की है । वह कहता है —

अर्थः कोमल कोमल विद्यते एव धारति ।

अपराध बुद्धिमात्राति अपमात्राति संख्यात् ॥

अर्थात् हे सगुण्यतो देवी आप के कोय की बुरा तो बहुत ही विचित्र जान पड़ती है । क्योंकि व्यय करने से इसका बुद्धि होती है, और संख्य करने से यह घट जाता है । किसी हिन्दी कवि ने एक बोहे में यही भाव व्यक्त किया है —

सरस्वति के मंदार की बड़ी मरुच बात ।

ज्यों ज्यों करे त्यों त्यों ज्यों ज्यों करे बड़ बात ॥

इस लिए मनुष्य को चाहिए कि, विद्या का पढ़ना-पढ़ाना कभी बन्द न करे । कौन से शास्त्र और विद्या मनुष्य को पढ़नी चाहिए, इस विषय में मनुजी का आदेश इस प्रकार है —

बुद्धिबुद्धिकराणां ह्यप्यपि न विद्यापि न ।

विश्वं शास्त्राण्यकरोत विषयान्येव वैदिकान् ॥

विद्वान् शास्त्र, जिनमें शिष्यशास्त्र आयुर्वेद, धनुर्वेद इत्यादि सब आ जाते हैं, और जो शीघ्र बुद्धि एवं धीर हित को बढ़ाने वाले हैं उनको नित्य पढ़ना-पढ़ाना चाहिए । यह नहीं कि, पिछासय में पढ़कर उनको भूख आये, यदि जीवन भर अपनी जीविका का कार्य करते हुए उनका अभ्यास करते रहना चाहिए ।

भाजक्य पुस्तकी विद्या का बहुत प्रकार हो रहा ॥ पर वास्तव में पुस्तकी विद्या सदैव काम नहीं देती । इस लिए विद्या अपने आचरण में जाना चाहिए । सब पाठें कंठाय रानी चाहिए । और उनका काय में लाने का कोशिस भी जानना चाहिए । पुस्तकी विद्या के विषय में बाणक्य मुनि ने इस प्रकार कहा है —

अर्थात् कोपकोपेन विघटं तव मारुति ।

अथवा बुद्धिमाणाति अथवा नाति उच्यते ॥

अर्थात् हे सख्यस्तो देखी भाप क कोप की वशा तो बहुत ही बिबिध ज्ञान पड़ती है । क्योंकि इसमें करने से इसका बुद्धि होती है, और सख्य करने से यह घट जाता है । किसी हिम्मी कवि ने एक दाहे में यही भाव दर्शाया है —

सख्यति क मंदार की बड़ी अत्यन्त वात ।

ज्यों ज्यों करके त्यों बड़े विष करके घटि जात ॥

इस लिए मनुष्य को चाहिए कि, विद्या का पढ़ना-पढ़ावा कभी कम न करे । कौन से शास्त्र और विद्या मनुष्य का पढ़नी चाहिए, इस विषय में मनुष्यी का आदेश इस प्रकार है —

बुद्धिबुद्धिभारान्नाह अथवा च विद्वान् च ।

मिश्रं छात्राण्यभ्येत विप्रमंत्रयैव वैश्वानर ॥

वेदादि शास्त्र जिनमें शिष्यशास्त्र आयुर्वेद, धनुर्वेद इत्यादि सब आ जाते हैं, और जो शिष्य बुद्धि, धन और हित को बढ़ाने चाहें उनको नित्य पढ़ना-पढ़ना चाहिए । यह नहीं कि, विद्यालय में पढ़कर उनको भूख आये, बल्कि जीवन भर अपनी जीविका का कार्य करते हुए, उनका अभ्यास करते रहना चाहिए ।

भास्करीय पुस्तकी विद्या का बहुत प्रकार हो रहा है, पर वास्तव में पुस्तकी विद्या सबैध काम नहीं देती । इस लिए विद्या अपने भावकरण में सामा चाहिए । सब बातें कंडाप्र होनी चाहिए । और उनको कार्य में लाने का बीजक भी जानना चाहिए । पुस्तकी विद्या के विषय में व्याकरण मुनि ने इस प्रकार कहा है —

पुस्तकेषु च या विद्या परद्वस्तेषु यद्वनम् ।

उत्पन्नेषु च कार्येषु न सा विद्या न तद्वनम् ॥

चाणक्यः

अर्थात् पुस्तक को विद्या और पराये हाथ का धन कार्य पढ़ने पर उपयोग में नहीं आता । न वह 'विद्या' है, और न वह धन है ।

विद्या पढ़नेमें बालको को खूब मन लगाना चाहिए । क्योंकि बालपन में जो विद्या पढ़ ली जाती है, वह जिन्दगी भर सुख देती रहती है और विद्या एक ऐसा धन है, जिसमें किसी प्रकार का विघ्न भी नहीं है । किसी कविने कहा है —

न चौरहार्यं न च राजहार्यं

न भ्रातृभाज्यं न च भारिकारी ।

व्यये कृते वर्धते एव नित्यं

विद्याधनं सर्वधनप्रधानम् ॥

अर्थात् विद्या-धन को न तो चोर चुरा सकता है, न राजा डाढ़ सकता है, न भाई खँटा सकता है, और न कोई इसका बोझा है । फिर व्यय करने से रोज बढ़ता है । सचमुच ही विद्याधन सब धनों से श्रेष्ठ है ।

९-सत्य

जो बात जैसी ऐसी सुनी भयषा की हो, भयषा उसी पक्ष में हो उसको उसी प्रकार काष्ठी द्वारा प्रकट करना सत्य बोलना कहलाता है। मनुष्य को ये सिर्फ सत्य बोलना ही चाहिए, बल्कि सत्य ही बिचार मन में आना चाहिए। और सत्य ही काम भी करना चाहिए। सर्वथा सत्य का व्यवहार करने से ही मनुष्य को स्वार्थ और परमार्थ में सभी सफलता मिल सकती है। जो मनुष्य अपने सब कार्यों में सत्यका धारण करता है वह क्रियासिद्ध और वाचासिद्ध हो जाता है। अर्थात् जो कार्य वह करता है, उसमें विफलता कभी होती ही नहीं। और जो बात वह कहता है वह पूरी ही हो जाती है।

सत्य वास्तव में ईश्वरका स्वरूप है। इसलिये जिसके हृदय में सत्य का वास है, उसके हृदय में ईश्वर का वास है। किसी कवि ने कहा है —

घोष करोकर तब नहीं झूठ करोकर पाप ।

बाके हिरण घोष है, लगे हिरण भाव ॥

अर्थात् सत्य के समाप और कोई लप नहीं, और झूठके बराबर कोई पाप नहीं है। जिसके हृदयमें सत्य का वास है, उसके हृदय में परमात्माका वास है। इसलिये सत्य का आचरण करने में कभी मनुष्य को पछी न रहना चाहिए। उपनिषद् में भी यही कहा है —

वदि ज्ञवात्सरो भवेत् वाक्वात्सरात् नमः ।

वदि ज्ञवात्सरी वाक् ज्ञवात्सरात् ज्ञवात्सरी

अर्थात् सत्य से भय भय कोई भय नहीं है।

चर अन्य कोई पातक नहीं है। इसी प्रकार सत्य से श्रेष्ठ और कोई ज्ञान नहीं है। इस लिए सत्य का ही आचरण करना चाहिए।

प्रायः ससार में ऐसा देखा जाता है कि सत्य का आचरण करनेवाले को कष्ट उठाना पड़ता है, और मिथ्याचरणी पाखंडी धूर्त लोग सुख से जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु जो विचार-शील मनुष्य हैं, वे जानते हैं कि सत्य से प्रथम तो चाहे कष्ट हो, परन्तु अन्त में अक्षय सुख की प्राप्ति होती है। और मिथ्या आचरण से पहले सुख होता है; और अन्त में उसकी दुर्गति होती है। वास्तव में सच्चा सुख वही है, जो परिणाम में हितकारक हो। देखिए, कृष्ण भगवान् गोता में तीन प्रकार के सुखों की व्याख्या करते हुए कहते हैं —

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।

तत्सुख सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥

अर्थात् जो पहले तो विष की तरह कटु और दुःखदायक मालूम होता है, परन्तु पीछे अमृत के तुल्य मधुर और हितकारक होता है, वही सच्चा सात्त्विक सुख है। ऐसा सुख आत्मा और बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न होता है।

आत्मा और बुद्धि को प्रसन्नता का उपाय क्या है? क्या मिथ्या आचरण से कमी आत्मा और बुद्धि प्रसन्न हो सकती है? सब जानते हैं कि, पापी आदमी की बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। उसका पाप ही उसको खाता रहता है। पहले तो वह समझता है कि, मैं मिथ्या आचरण करके खूब सुखी हूँ, पर उसके उसी सुख के अन्दर ऐसा गुप्त विष छिपा हुआ है, जो किसी दिन उसका सर्वनाश कर देगा। उस समय उसे स्वर्ग

नरक यही भी ठिकाना न छोड़ेगा। इस लिए मिथ्या आचरण छोड़कर मनुष्य को सर्वत्र सत्य का ही वर्तन करना चाहिए। इसी से मन और बुद्धि को सच्ची प्रसन्नता प्राप्त होती है, और ऐसा सच्चा सुख प्राप्त होता है, जिसका कभी नाश नहीं होता।

सत्य से ही यह सारा संसार बंध रहा है। यदि सत्य एक क्षण के लिए भी अपना कार्य बन्द कर दे, तो प्रलय हो जाय। यदि एक मनुष्य कुछ मिथ्या आचरण करता है, तो दूसरा तुरन्त ही सत्य आचरण कर के इस लुप्ति की रक्षा करता है। यह मनुष्य की ही बात नहीं है, बल्कि संसार की अन्य सब मौलिक शक्तियाँ भी सत्य से ही बंध रही हैं। वायव्यनीति में कहा है —

सत्येन वाक्ते पूज्यो सत्येन उच्ये रधि।

सत्येन वाति वासुध धर्मी सत्ये प्रसिद्धिम्॥

अर्थात् सत्य से ही पूज्यी स्थिर है सत्य से ही धर्म तप रहा है, और सत्य से ही वायु बह रही है। सत्य में ही सब स्थिर है।

जो लोग सत्य का आचरण नहीं करते हैं, उनकी पूजा अब तप सब व्यर्थ है। जैसे ऊपर भूमि में बीज बोने से कोई फल नहीं होता उसी प्रकार मिथ्याचरण करनेवाला चाहे कितना धर्म करे, सत्य के बिना उसका कोई फल नहीं होता। मात्रकाल प्रायः हमारे देश में देखा जाता है कि पाण्डवी लोग सब प्रकार से मिथ्या व्यवहार करके, लोगों का गला काटकर, अपने सुख-भोग के सामान जमा करते हैं, परन्तु ऊपर से अपना ऐसा भोग क्लेश है जैसे ये कोई बड़े भारी साधु और ईश्वर भक्त हों। स्नान-उत्थान अब तप, सब धर्म के कार्य निपमित रूप से करते हैं, पर कच्चेहरी में जाकर झूठी गंधाही देते

हैं। ऐसे लोगों का सब धर्म-कर्म व्यर्थ है। लोग उनको अच्छी दृष्टि से नहीं देखते। भले आदमियों में उनका आदर कभी नहीं होता। ऐसे धूर्त और पाखण्डी लोगों से सदैव बचना चाहिए।

ये लोग ऊपर से सत्यका आवरण रखकर भीतर से मिथ्या व्यवहार करते हैं। जो सीधे-सादे मनुष्य होते हैं, जिनकी नीति का ज्ञान नहीं है वे इनकी 'पालिसी' में आ जाते हैं। जिसमें मिथ्या की पालिश की होती है, उसी को 'पालिसी' कहते हैं। पालिसी को सदैव अपने जलते हुए सत्य से जला डालो। क्योंकि ऋषियों ने कहा है —

सत्यमेव जयते नानृत सत्येन पन्था विततो देवयान ।

अर्थात् सत्य की ही विजय सदैव होगी। मिथ्या की नहीं। सत्य के ही मार्ग से परमात्मा मिलेगा। सब प्रकार के कल्याण का ज्ञान सत्य से ही होगा। हमारे पूर्वज ऋषिमुनि लोगों ने सत्य का ही मार्ग स्वीकार किया था, और उनमें यह शक्ति हो गई थी कि, जिसके लिए वे जो बात कह देते थे, उसके लिए वहीं हो जाना था। चाहे जिसको शाप दे देते, चाहे जिसको वरदान दे देते। यह सत्य-साधना का ही फल था। वे अन्यथा वाणी का उपयोग कभी नहीं करते थे, न कोई अन्यथा बात मन में लाते थे, और न कोई अन्यथा कार्य करते थे। वास्तव में मनुष्य का धर्माधर्म सत्य पर ही निर्भर है। एक सत्य का 'वर्ताव' कर लिया, इसी में सब आ गया। फिर कोई उसको अलग धर्म करने को जरूरत ही नहीं रह जाती। क्योंकि कहा है —

सत्य धर्मस्तपोयोग सत्यं ब्रह्म सनातनम् ।

सत्यं यज्ञ पर प्रोक्त सर्व सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥

अर्थात् धर्म, तप, योग, परब्रह्म, यज्ञ, इत्यादि जितना कुछ

कल्याण स्वरूप है, वह सब सत्य ही हैं। सत्य में सब भा जाता है। इसलिये सर्वत्र आत्मा के अनुकूल भावधारण करो। ऐसा न करो कि मन में कुछ भीर हो वरन् उसे कुछ भीर करो, भीर करो कुछ भीर। मन, बाणी और कर्म, तीनों में एकता रखो। यही सत्य है। इसी से तुम्हारा हित होगा, और इसी से तुम संसार का हित कर सकोगे। आइये पाठक, हम सब मिलकर उस सत्यस्वरूप परमात्मा की स्तुति करें, उसी की शरण में क्यों जिसमें वह हमारे हृदय में ऐसा बस देवे कि, हम सत्य की रक्षा और असत्य का हनन कर सकें :—

सत्यम्, सत्तारं मित्रम्,

सत्यम् वोचि विहितं न ह्यत्र ।

सत्यम् सत्यं कल्याणमेव,

सत्तात्कर्म त्वं करणं प्रसी ॥

हे सत्यमत हे सत्य से भी श्रेष्ठ, हे तीनों लोक और तीनों काष्ठ में सत्यसमस्त हे सत्य के उत्पत्तिस्थान हे सत्य में रहने वाले, हे सत्य के गो सत्य, हे कल्याणकारी सत्य के मार्ग से ले चलनेवाले, सत्य की आरम्भा हम आपकी शरण आये हैं।

१०—अक्रोध

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर ये छै मन के विकार हैं, जो मनुष्य के शत्रु माने गये हैं। इन छै विकारो को जिसने जीत लिया, उसने मानों अपने-आप को जीत लिया। यही छै विकार मन के अन्दर ऐसे बसते हैं कि जिनके कारण मनुष्य आप ही अपना दुश्मन हो जाता है, और यदि इनको जीतकर अपने वश में कर लिया जाय, तो मनुष्य आप ही अपना मित्र है।

बन्धुरात्मात्मनस्तु येनात्मैवात्मना जित ।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

गीता, अ० ६

जिसने अपने-आप को, अपने आप के द्वारा, जीत लिया है, अर्थात् उपर्युक्त छौं मनोविकारोंको अपने वश में कर लिया है, उसका आत्मा उसका मित्र है—अर्थात् इन छौं मनोविकारो को अपने वश में रखकर वह इनसे अपना कल्याण कर सकता है, और जिसने इनको अपने-आप वश में नहीं किया है, उसके लिए ये शत्रु तो बने-बनाये हैं। इनके वश में होकर रहनेवाला मनुष्य आप ही अपना घात करने के लिए काफी है। उसके लिए किसी बाहरी शत्रु की आवश्यकता नहीं।

इनमें प्रथम दो विकार, काम और क्रोध सब से अधिक प्रबल हैं, क्योंकि इन्हीं से अन्य सब विकार पैदा होते हैं। इन दोनों के विषय में श्रीकृष्ण भगवान् गीता में कहते हैं—

काम एव क्रोध एव रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह धैरिणम् ॥

गीता, अ० ३

अर्थात् यह काम और यह क्रोध, जो मनुष्य के रजोगुण अर्थात् भ्रष्टात्मक स्वार्थ से पैदा होता है, बड़ा भारी भस्त्रक, पापी राक्षस है। इस संसार में मनुष्य का यह भारी दुश्मन है। यह किस प्रकार पैदा होता है, और फिर किस प्रकार मनुष्य का नाश करता है, इसका भी क्रम जानने योग्य है —

आपत्तो विपत्ताश्च पुत्राः सङ्गस्तेष्वप्यपत्तेः ।
सङ्गात्सङ्गपतत कामा कामात्कोरोममिच्छपते ॥
क्रोधादपचक्षि संमोहाः संमोहात्समृद्धिर्विप्रयाः ।
समृद्धिश्च काङ्क्ष बुद्धिचक्षोः बुद्धिबाधस्तान्मप्यति ॥

श्लोक २

मनुष्य पहले विपत्तियों का चिन्तन करता है। विपत्तियों के चिन्तन से फिर उस विपत्तियों में प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीति उत्पन्न होने से फिर उनको पाने की इच्छा उत्पन्न होती है। पाने की इच्छा उत्पन्न होने के बाद, जब इच्छापूर्ति नहीं होती तब क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अविशेष होता है अर्थात् क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, यह विचार-शक्ति नहीं रहती। जब विचार शक्ति नहीं रहती, तब यह अपने भाग को भूल जाता है। अगर जब यह अपने भागको भूल गया, तब उसकी बुद्धि-अर्थात् ज्ञान-पुरेका विचार करके किसी निर्णय तक पहुँचने की शक्ति—नी नष्ट हो जाती है, और जहाँ यह शक्ति नष्ट हुई कि, मनुष्य का सुखनाश हो जाता है।

इसलिए काम से उत्पन्न होनेवाला क्रोध, जो सब पापों का मूल है उसका पश में करके मनुष्य को अक्रोध बनना चाहिए। अक्रोध का यह मतलब नहीं है कि आपका कोई भी भंड मनुष्य के भस्त्रक न रहे। यदि हमका इतना ही मतलब है कि, पस

क्रोध को धारण न करो कि जिससे स्वयं अपनी अथवा दूसरे का हानि हो। हां, विवेक के साथ क्रोध करने से कोई हानि नहीं हो सकती। क्रोध के साथ यदि विवेक शामिल होता है, तो वह क्रोध तेज के रूप में परिवर्तित हो जाता है। महाभारत में कहा है —

यस्तु क्रोधं समुत्पन्नं प्रज्ञया प्रतिबाधते ।

तेजस्विनं तं विद्वांसो मन्यन्ते तत्त्वदर्शिन ॥

महाभारत, वनपर्व ।

क्रोध उत्पन्न होने पर जो मनुष्य विवेक के द्वारा उसको अपने अन्दर ही रोक लेता है, उसको विद्वान् तत्त्वदर्शी पुरुष तेजस्वी कहते हैं, और इस तेजस्विता की मनुष्य के लिए बड़ी जरूरत है। तेजस्वी मनुष्य अन्दर से कोमल रहता है, परन्तु ऊपर से कठोरता धारण करता है। दुष्टों का दमन करने और पीड़ितों को अत्याचार से छुड़ाने के लिए तेजस्विता दिखानी पड़ती है। तेजस्विता ही शूरता और निर्भयता की जननी है। तेजस्वी पुरुष की बुद्धि सदैव निर्मल रहती है। वह क्रोध करता है, परन्तु क्रोध के कारण उसके हाथ से कोई अनर्थ अथवा पाप नहीं होने पाता। इसी लिए कहा है कि—

क्रोधेऽपि निर्मलधिया रमणीयतास्ति ।

अर्थात् जिसको बुद्धि पापरहित है, उसके क्रोध में भी एक प्रकार का सौन्दर्य रहता है। साधुपुरुषों के क्रोध से भी कल्याण होता है। वे जिसके ऊपर क्रोध करते हैं, उसका भला होता है। सर्वसाधारण लोगों को चाहिए कि, छोटी-छोटी बातों पर अथवा बिना कारण, क्रोध करने की आदत न डालें। यदि किसी कारणवश क्रोध आ जावे, तो उसको साधने का प्रयत्न करें, और यदि क्रोध करने की आवश्यकता ही मालूम हो, तो

अपने भावे में खूबकर तात्कालिक धोखा सा क्रोध दिखाकर फिर तुच्छ शान्ति धारण कर लें। दूसरा यदि क्रोध करता हो तो कभी उसके पहले में क्रोध न करना चाहिए। बल्कि ऐसे सीके पर स्वयं पूर्ण शान्ति धारण करके उसके क्रोध को शान्त करना चाहिए —

अक्रोधश्च अनेक क्रोधं भक्षयति पाशुना अनेक ।

यदाचार्य, स्वीकर्ण ।

अक्रोध भर्पात् शान्ति से क्रोध को जीते, और दुष्प्रता को सज्ज नता से जीते। स्वयं क्रोध करने से अपना ही हृदय अकृता है, दूसरे की कोई हानि नहीं होती। काम में साधक जब मनुष्य अपने भावे से बाहर हो जाता है, तब अपने बड़े-बड़े प्रियजनोकी भी हत्या कर डालता है, और जब कभी वही क्रोध और दुष्प्रता और पशुप्राण के रूप में परिवर्तित हो जाता है, तब मनुष्य अहमहत्या करने में भी नहीं शूकता। किसी कवि ने कहा है—

अक्रोधश्च अक्रुद्धश्च विपत्ते महत्फलदा ।

ज्वात्मन वदन्ति अनेक अक्रुद्धो न पाशवश्च ॥

अपात् क्रोध और अक्रुद्ध अहं में एक बड़ा भारी अन्तर है—क्रोध जिसके पास रहता है, उसी का अकृता है; परन्तु अहं जिसके पास रहता है, उसको कोई हानि नहीं पहुँचाता।

क्रोध से दुर्बलता माती है। शान्ति से बल बढ़ता है। इस लिए काम-क्रोधादि सब दुष्प्रता मनोविचारों को अपने अन्दर ही मारकर शान्ति धारण करना चाहिए। शान्ति से चित्त प्रसन्न रहता है, मन और शरीर का संन्यस्य बढ़ता है। जिसके हृदय में सर्वत्र शान्ति रहती है, उसके चेहरे पर भी शान्ति चित्त आती है। उसके प्रमुख और प्रसन्न चरण को देखकर देखने

वाले को आनन्द प्राप्त होता है। इसके विरुद्ध जिसके मन में सदैव क्रूरता और क्रोध के भाव उठते रहते हैं, उसका चेहरा विकृत और बदसूरत हो जाता है। ऐसे मनुष्य को देखकर घृणा होती है। इस लिए मन, वचन और कर्म तीनों में मधुरता और शान्ति धारण करने से मनुष्य स्वयं सुखी रहता है, और ससार को भी उससे सुख होता है। वेद में कहा है —

मधुमन्मे निक्रमण मधुमन्मे परायणम् ।

वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्देश ॥

अथर्ववेद ।

अर्थात् हमारा आचरण मधुरतापूर्ण हो, हम जिस कार्य में तत्पर हो, वह मधुरतापूर्ण हो, हम मधुर वाणी बोलें, हमारा सब कुछ मधुमयी हो ।

धर्मग्रन्थ

वेद

हिन्दुओं का मूल ग्रन्थ वेद है। यह सृष्टि के आदि में परमात्मा ने उत्पन्न किया। वेद-ग्रन्थ चार हैं—(१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद, और (४) अथर्ववेद। चारों वेद परमात्मा से ही सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुए। इस विषय में ऋग्वेद में ही उल्लेख है —

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतं क्वच सामानि यजिरे ।

छन्दांसि यजिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

—ऋग्वेद

अथान् उस परम पूज्य पञ्चस्वरूप परमात्मा ॥ हा श्रुत, सम्म,
एम् (भयम्) और पञ्चर्षेय उत्पन्न हुए । भय प्रश्न यह है कि
सृष्टि क भावि में परमात्मा भी वीर्य के मन्त्र कोने उत्पन्न किए ।
ब्रह्मवार्त्त्यक उपनिषद् में लिखा है —

अथ मयतो धुनय विःसिद्धयेतुयद्यदोच्यते सा मयतोऽन्यथादिना
 यद्यप्यथ

उस महामूत परमात्मा के निःश्वास से बाहर वेद निकले । क्या परमात्मा ने श्वास छोड़ा था ? हाँ । किस प्रकार ? उसका नाम ही उसका श्वास ही । यह श्वास उसने सृष्टि के भावि में बाहर श्रुतिपियों के दृश्य में छोड़ा था । ये बाहर श्रुति पहले-पहल सृष्टि में उत्पन्न हुए । उसी बाहर श्रुतिपियों के द्वारा वेद प्रकट हुए । अतएव वाक्य में लिखा है —

अनंकरुण्यो वाचोर्नन्दनैः सुखसायकः ।

Case 11-13007 Document 1-1 Filed 07/26/11 Page 11 of 11

मघाद् मग्निं पायु, मादित्यं भीरुं अग्निराश्रयि के इत्येवं
परमात्मा ने पृथ्वी-पशुल कमला, आग्नेय, वायुपद्, सामवेद, भीरु
मयवेदेद का ज्ञान प्रकाशित किया। अपने इत्येवं में इन चारों
शक्तियों ने परमात्मा का ज्ञान सुना, भीरु इसा खिय वेदों का
नाम 'भूति' पड़ा।

बेहों में ही परमात्मा ने अविष्ट मानवजाति के लिए धर्म का ज्ञान दिया है। फिर बेहों से ही अन्य सब प्राणों में ज्ञान का विकास हुआ है। अर्थात् संसार के अन्य सब प्राण बेहों के पास रहे गये हैं और उन सब में बेहों के ज्ञान की ही मिलन मिलन प्रकार से व्याख्या की गई है।

उपवेद

प्रत्येक वेद का एक एक उपवेद है—जैसे (१) ऋग्वेद का अथर्ववेद, जिसमें विज्ञान, कला-कौशल, कृषि, वाणिज्य, इत्यादि धन उत्पन्न करने के साधनों का वर्णन है। (२) यजुर्वेद का अनुवेद, जिसमें राजनीति, शास्त्र-अस्त्र की कला और युद्धविद्या का वर्णन है, (३) सामवेद का गान्धर्व वेद, जिसमें संगीत-शास्त्र का वर्णन है, (४) अथर्ववेद का आयुर्वेद, जिसमें वनस्पति, रसायन और शरीरशास्त्र इत्यादि का वर्णन है।

वेदाङ्ग

वेद के छै अंग हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष। ये छों अङ्ग भी वेद की व्याख्या करते हैं।

वेदोपाङ्ग

छै अंगों की तरह वेद के छै उपाङ्ग भी हैं। उनके नाम ये हैं—(१) न्याय, गौतम ऋषि का बनाया हुआ, (२) वैशेषिक, कणाद ऋषि का रचा हुआ, (३) सांख्य, महर्षि कपिल का निर्मित किया हुआ (४) योग, भगवान् पतञ्जलि का, (५) मीमांसा, महर्षि जैमिनि का, (६) वेदान्त, महर्षि वादरायण उपनाम वेदव्यास का रचा हुआ। वेद के इन्हीं छै उपाङ्गों को छै शास्त्र या पङ्दर्शन भी कहते हैं। इनमें ईश्वर, जीव और सृष्टि का तत्त्वविचार है। सब का परस्पर-सम्यन्ध और बन्ध-मोक्ष का उत्तम विचार है। यह भी सब वेद की ही व्याख्या करते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थ

वेदों की व्याख्या करनेवाले कुछ ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, जिनमें

अर्थात् उस परम पूज्य पण्डितरूप परमात्मा से ही अक्ष, साम, एतद् (अथर्व) और यजुर्वेद उत्पन्न हुए। अब प्रश्न यह है कि सृष्टि के आदि में परमात्मा ने वेदों के मन्त्र कैसे उत्पन्न किये। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है —

अथ महतो भूतस्य निःसृष्टिस्तत्परावदोषतुर्बेदः सामरहस्यर्षाद्विष्णोः
इन्द्राण्यक्ष

उस महामूर्त परमात्मा के निःश्वास से चारों वेद निकले। क्या परमात्मा ने श्वास छोड़ा था ? हाँ। किस प्रकार ? उसका ज्ञान ही उसका श्वास है। यह इरास उसने सृष्टि के आदि में चार सृष्टियों के हृदय में छोड़ा था। ये चार सृष्टि पहले पाँच सृष्टि में उत्पन्न हुए। उसी चार सृष्टियों के द्वारा वेद प्रकट हुए। अतएव ब्राह्मण में लिखा है —

अथर्ववेदो वाचोर्बतुर्बेदो सूर्यसामवेदः ।

अथर्व वा

अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा सृष्टि के हृदय में परमात्मा ने पहले पाँच अथर्व, यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्ववेद का ज्ञान प्रकाशित किया। अपनी हृदय में इन चारों सृष्टियों ने परमात्मा का ज्ञान सुना, और इसा क्षिप्र वेदों का नाम 'भुक्ति' पड़ा।

वेदों में ही परमात्मा ने अखिल मानवजाति के छिपे धर्म का ज्ञान दिया है। फिर वेदों से ही अन्य सब ग्रन्थों में ज्ञान का विकास हुआ है। अर्थात् संसार के अन्य सब ग्रन्थ वेदों के बाद रचे गये हैं, और उन सब में वेदों के ज्ञान की ही मूल मूल प्रकाश से व्याख्या की गई है।

उपवेद

प्रत्येक वेद का एक एक उपवेद है—जैसे (१) ऋग्वेद का अथर्ववेद, जिसमें विज्ञान, कला-कौशल, कृषि, वाणिज्य, इत्यादि धन उत्पन्न करने के साधनों का वर्णन है। (२) यजुर्वेद का धनुर्वेद, जिसमें राजनीति, शस्त्र-शस्त्र की कला और युद्धविद्या का वर्णन है, (३) सामवेद का गान्धर्व वेद, जिसमें सर्गीत-शास्त्र का वर्णन है, (४) अथर्ववेद का आयुर्वेद, जिसमें वनस्पति, रसायन और शरीरशास्त्र इत्यादि का वर्णन है।

वेदाङ्ग

वेद के छै अंग हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं — शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष। ये छत्रो अङ्ग भी वेद की व्याख्या करते हैं।

वेदोपाङ्ग

छै अंगों की तरह वेद के छै उपाङ्ग भी हैं। उनके नाम ये हैं — (१) न्याय, गौतम ऋषि का बनाया हुआ, (२) वैशेषिक; कणाद ऋषि का रचा हुआ; (३) सांख्य, महर्षि कपिल का निर्मित किया हुआ (४) योग, मगवान् पतञ्जलि का, (५) मीमांसा, महर्षि जैमिनि का, (६) वेदान्त, महर्षि वादरायण उपनाम वेदव्यास का रचा हुआ। वेद के इन्हीं छै उपाङ्गों को छै शास्त्र या पङ्कदर्शन भी कहते हैं। इनमें ईश्वर, जीव और सृष्टि का तत्त्वविचार है। सब का परस्पर-सम्बन्ध और बन्ध-मोक्ष का उत्तम विचार है। यह भी सब वेद की ही व्याख्या करते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थ

वेदों की व्याख्या करनेवाले कुछ ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, जिनमें

पेत्रेय, शतपथ, साम, गोपथ, ये चार मुख्य ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं इनमें कर्मकाण्ड प्रश्न, पशु, साम और मयर्ष के कर्मकाण्ड की प्रधानता से व्याख्या की गई है। ज्ञानकाण्ड भी है।

उपनिषद्

उपनिषद् मुख्यतया ग्याण्ड हैं—ईशा, केन कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तीत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर। सब उपनिषद् प्रायः वेदोंके ज्ञानकाण्ड की ही प्रधानता से व्याख्या करती हैं।

स्मृति-ग्रन्थ

स्मृतिग्रन्थ मुख्य मुख्य अठारह हैं—मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, विष्णु, हारोत भीष्मसूत, आंगिरस, यम, आपस्तम्ब, संख्य, कात्यायन बृहस्पति, पाप्यकृत, व्यास शंख, दत्त शतातप, वसिष्ठ। ये अष्टादश स्मृतिवां मित्र मित्र ऋषियोंकी रची हुई उनकी के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये वेद के कर्माचार की अपने अपने मतानुसार, व्याख्या करती हैं। मनुस्मृति सब से प्राचीन और सर्वमान्य समझी जाती है।

पुराण

पुराण-ग्रन्थ भी मुख्यतया अठारह हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—ऋग्वेद, पद्म, विष्णु, शिव भागवत, नारद मार्कण्डेय, अग्नि अविष्णु, ब्रह्मवैवर्त शिवा वाराह स्कन्द, बालमय, कूर्म मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्माण्डपुराण। सब पुराण प्रायः व्यासजी के रचे हुए माने जाते हैं। इनमें बिद्योपकार इतिहास का वर्णन और देवताओं की स्तुति है। बीच बीच में वेदों के ज्ञान कर्म और उपासना काण्ड की व्याख्या भी मौजूद है।

काव्य-इतिहास

हिन्दू धर्म के दो बहुत बड़े महाकाव्य हैं—रामायण और महाभारत । इनको इतिहास भी कह सकते हैं । रामायण महर्षि वाल्मीकि और महाभारत महर्षि व्यास का रचा हुआ है । पहले काव्यमें मर्यादा-पुरुषोत्तम महाराजा श्रीरामचन्द्रजी का आदर्शचरित्र वर्णन किया गया है , और दूसरे में विशेषकर कौरवों-पांडवोंके युद्ध की कथा है । इसके अतिरिक्त उसमें और भी बहुत सा इतिहासिक वर्णन है । हिन्दू धर्म का छोटा, परन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण, धर्मग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गोता भी महाभारत के ही अन्तर्गत है । यह महायोगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् का अर्जुन को बतलाया हुआ ज्ञानग्रन्थ है । महाभारत हिन्दुओं का बड़ा भारी धार्मिक ग्रन्थ है । यहाँ तक कि इसको पाँचवा वेद कहा गया है । इस ग्रन्थ में नीति और धर्म के सब तत्व, बड़ी ही सरलता के साथ, अनेक प्रसंगों के निमित्त से, बतला दिये गये हैं । एक विद्वान् ने कहा है —

भारते सर्ववेदार्यो भारतार्थश्च कृत्स्नः ।

गीतायामस्ति तेनेय सर्वशास्त्रमयो मता ॥

महाभारत में वेदों का सारा अर्थ आगया है , और महाभारत का सम्पूर्ण सार गीता में आ गया है । इस लिए गीता सब शास्त्रों का सग्रह मानी गई है ।

दूसरा खण्ड वर्णाश्रमधर्म

“स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः”

गीता, अ० १८—४५ ।

चार वर्ण

हम हिन्दुओं में चार वर्ण पहले से ही माने गये हैं। ये वर्ण इस लिए माने गए हैं कि, जिससे चारों वर्ण अपने अपने धर्म या कर्त्तव्य का उचित रूप से पालन करते रहें। वेदों में चारों वर्णों का इस प्रकार वर्णन किया गया है —

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृत ।

• उरु तदस्य यद्वैश्यं पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

अर्थात् विराटरूप ईश्वर के चार अङ्ग हैं। ब्राह्मण मुख है। राजा लोग, अर्थात् क्षत्रिय, भुजा हैं। वैश्य शरीर का धड़ या जघा है, और शूद्र पैर हैं।

इस प्रकार से हमारे धर्म में चारों वर्णों के कर्त्तव्यों का दिग्दर्शन करा दिया गया है। मुख या शिरोभाग ज्ञानप्रधान है, इसलिए ब्राह्मणों का कर्त्तव्य है कि वे विद्या और ज्ञान के द्वारा सब वर्णों की सेवा करें। राजा लोग, अर्थात् क्षत्रिय, बल प्रधान हैं, इसलिए उनको उचित है कि, प्रजापालन और दुष्टों का दमन करके देशकी सेवा करें। वैश्य लोग धनप्रधान या व्यवसायप्रधान हैं, इसलिए उनको उचित है कि, जैसे शरीरका मध्यभाग भोजन पाकर सारे शरीर में उसका रस पहुँचा देता है, उसी प्रकार वैश्य लोग भी व्यवसाय-द्वारा धन कमाकर देश की सेवा में उसको लगायें। रहे शूद्र लोग, इनका कर्त्तव्य है कि, अपनी अन्य सेवाओं के द्वारा जनसमाज की सेवा करें।

अब ध्यान रखने की बात यह है कि, इन चारों वर्णों में कोई छोटा अथवा बड़ा नहीं है। सब अपने अपने कर्मों में श्रेष्ठ हैं।

कोई भी यदि अपने कर्म को नहीं करेगा, तो वह बोप का भारी होगा—बाहे दाहण हो या शूद्र। वैश या अमसमाज के लिए सब की समान ही आवश्यकता है। शरीर में से यदि कोई भी मांस न खे, अथवा निकम्मा हो जाय, तो दूसरे का काम नहीं चला सकता। सारा शरीर हो निकम्मा हो जायगा। इसी प्रकार चारों वर्गोंका भी हाथ है। यदि कोई कहे कि शूद्र छोटा है, तो यह उसकी बड़ी भारी भूल है। क्योंकि शरीर यदि अपने पैरोंकी सेवा न करे, चापरबाही से काम ले, अथवा उनको फट दे, तो अपने ही पैरों कुन्हाड़ों मारने के समान होया। वैशको विद्या पढ़, धन और अमसेवा चारों की समान ही आवश्यकता है। इन्हीं चारों की समस्तुस्यता और १. स्वरिक भाइर-भाव जब से इस धर्मप्रधान देशसे उठ गया, से यह देश पराधीन होकर पीड़ित हो रहा है। सब कहते हैं। इसलिये चारों वर्गों को एक दूसरे का सम्मान करते हुए, अपने अपने धर्म या कर्तव्य का पालन बराबर करती रहना चाहिए। हमारे धर्मग्रन्थों में चारों वर्गों के जो कर्तव्य बतलाये गये हैं, वे मोक्षे दिने आते हैं —

ब्राह्मण

मनु महर्षि ने ब्राह्मण का कर्तव्य इस प्रकार बतलाया है —

अध्यापनमध्यमं कर्म वाचनं तथा ।

शुचं प्रतिग्रहस्तैव ब्राह्मणानामकर्तव्यम् ॥

मनुस्मृति ।

स्वयं विद्या पढ़ना और दूसरे को पढ़ाना, स्वयं पक करना दूसरे को कराना स्वयं दान ३ १ दूसरे को दान देना—ये

छै कर्म ब्राह्मण के हैं। परन्तु मनुजी ने एक जगह “प्रतिग्रह प्रत्यवर.” कहकर बतलाया है कि, दान लेना यद्यपि ब्राह्मण का कर्म अवश्य है, क्योंकि और कोई दान नहीं ले सकता; परन्तु यह ब्राह्मण के सब कर्मों से नीच कर्म है। अर्थात् दान ले करके दान देना जरूर चाहिए, अन्यथा उसका प्रायश्चित्त नहीं होगा, और इसी कारण दान लेने के कर्त्तव्य का नाम प्रतिग्रह रखा गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में कृष्ण भगवान् ने ब्राह्मण के कर्त्तव्य इस प्रकार बतलाये हैं —

शमो दानस्तप शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

भगवद्गीता

अर्थात् १ शम—मन से बुरे काम की इच्छा भी न करना, और उसको अधर्म में प्रवृत्त न होने देना, २ दम—सब इन्द्रियों को बुरे काम से रोककर अच्छे काम में लगाना, ३ शौच—शरीर और मन को पवित्र रखना, ४ शान्ति—निन्दा-स्तुति, सुख-दुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, हर्ष-शोक, मान-अपमान, शीत उष्ण इत्यादि जितने द्वन्द्व हैं, सब में अपने मन को समतोल रखना, अर्थात् शान्ति, क्षमा सहनशीलता धारण करना, ५ आर्जव—कोमलता, सरलता, निरभिमानता धारण करना, ६ ज्ञान—विद्या पढ़ना-पढ़ाना, और बुद्धि-विवेक धारण करना, ७ विज्ञान—जीव, ईश्वर, सृष्टि, इत्यादि का सम्बन्ध विशेष रूप से जानकर ससार के हित में इनका उपयोग करना, ८ आस्तिक्य—ईश्वर और गुरुजनों की उपासना और सेवा-भक्ति करना।

ये सब ब्राह्मण के कर्तव्य हैं। यों तो ये सब कर्तव्य ऐसे हैं जिन्हें धारों बणों को अपने अपने अनुसार धारण करना चाहिये, परन्तु ब्राह्मण के लिये तो ये स्वामाधिक हैं। ब्राह्मण यदि इन कर्मों से ध्युत हो जाय, तो शास्नीय है।

क्षत्रिय

क्षत्रिय वर्गात् राजा के कर्तव्य मनु महाराज ने इस प्रकार कथित है :—

प्रजायां राज्ञं दायमित्राभ्यन्वयेव च ।

विन्देयप्रसन्नश्च कृत्रिक्च समस्तस्य ॥

मनुस्मृति ।

वर्गात् (१) न्याय से प्रजा की रक्षा करना, पक्षपात छोड़कर भेदों का उत्कार और दुष्टों का विरुद्ध करना सब प्रकार से सब का यथायोग्य पालन करना, (२) प्रजा को विद्या-दान देना शिक्षा सुपात्रों का धन इत्यादि से उत्कार करना, (३) भिक्षादि दान करना, वैद्यादि शास्त्रों का अध्ययन करना, (४) निष्पक्षी में न फैसल कर सब जिसे निष्पक्ष रहते हुए शरीर और आत्मा से व्यग्रान् रहना, ये सब क्षत्रिय के कर्तव्य हैं।

कृत्वा भगवान् अपनी पीठा में क्षत्रिय के कर्तव्य इस प्रकार कथित हैं —

शीर्षं तेजो वरिणीर्ध्वं पुनरेवाप्यन्यायवत् ।

दायमीभर्यायाम् काकर्म स्वभावजम् ॥

अथर्ववेदा ।

वर्गात् (१) शीर्ष—सैकड़ों-हजारों शत्रुओं से भी भयंके युद्ध करने में भय न होना, (२) तेज—तेजस्विता और दुष्टों पर भर्त्सक बनना, (३) धृति—साहस, दृढ़ता, और धैर्य का धारण

वर्ण-भेद

अब यह देखना चाहिये कि यह वर्ण-भेद क्यों किया गया । क्या ईश्वर का यही हेतु था कि मनुष्य-जाति में फूट पड़ जाय, सब एक दूसरे से अपने को अलग समझकर—मिथ्या अभिमान में आकर—देश का सत्यानाश करें ? कृष्ण भगवान् ने स्वयं गीता में कहा है —

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कर्तारमपि मा विद्ध्यकर्तारमन्ययम् ॥

अर्थात् गुण कर्मके विभाग से मैंने चारों वर्णों को बनाया है । यों तो मैं अविनाशी हूँ, अकर्ता हूँ, मुझे कोई जरूरत नहीं है कि इस पाखण्ड में पड़ूँ, लेकिन फिर भी सृष्टि के काम—राष्ट्र के काम—समुचित रूप से चलते रहें, इसी कारण मुझे कर्ता बनना पड़ा है ।

सो चारों वर्ण उस एक ही पिता के पुत्र हैं । उनमें भेद कैसा ? भविष्यपुराण में इसी का खुलासा किया गया है —

चत्वार एकस्य पितु सतादयः ।

तेषां सतानां खलु जातिरेका ॥

एवं प्रजानां हि पितृक एव ।

पित्रैकभावात् न च जातिभेदः ॥

भविष्यपुराण

अर्थात् चारों एक ही पिता के पुत्र हैं (सब राष्ट्र के रखवाले हैं) सब पुत्र एक ही जाति के हैं । जब सब एक ही पिता के पुत्र हैं, तब उनमें जाति-भेद कैसा ?

यही बात श्रीमद्भागवत पुराण में भी कही गई है —

प्राज्ञपुत्र क्षत्रिय और वैश्य की सेवा करना ही एक-मात्र दूत का कर्तव्य है।

मनुजी ने डीक कहा है, परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि दूत तो हमारा वास या गुहाम है, हम चाहें जिस तरह उससे सेवा लेवें। वास्तव में सेवा-धर्म यही गहन है और सब धर्मों से पवित्र है। जिस प्रकार अन्य तीनों वर्ण अपने अपने कर्तव्यों में स्वतन्त्र, परन्तु जहाँ दूसरों का सम्बन्ध आता है, वहाँ स्वतन्त्र ही उसी प्रकार दूत भी अपने कर्म में स्वतन्त्र है। यह अपने धर्म को समझकर सेवा करेगा, और अन्य वर्गों को चाहिए कि, वे भी अपने धर्म को ही समझकर उससे सेवा का कार्य लेवें। परस्पर एक दूसरे का भावर करें, क्योंकि दूत के सेवा-धर्म पर अन्य प्राज्ञपुत्र क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि द्विजातियों का जीवन अवलम्बित है।

पुराणों में दूतों के कर्तव्य का और भी अधिक लुकासा किया गया है। बाराहपुराण में दूत का कर्तव्य इस प्रकार बताया है —

श्रुत्वा द्विजमुवा त्वा जीवन्वात् संसेत् ।

क्षिप्येत् विविधैर्विषै द्विजातिद्विजनाचरत् ॥

बाराहपुराण

अर्थात् दूत लोग तीनों द्विजातियों का हित करते हुए उनकी सेवा करें, और विषप्रविषा (कारीगरी विज्ञान) शूद्रादि भवेक वर्गों से अपनी आजीविका करें। सार्वभौम यह है कि दूत भी हमारे समाज का एक आवश्यक और शुद्ध भूत है। इनके साथ यदि हम भावर का कर्ताव्य करेंगे तो वे भी हमारे गौरव को बढ़ाते बिना न रहेंगे।

अरे, चार तो वर्ण ही हैं—पाचवा अपनी मूर्खता और अज्ञानता से क्यों ले आये ! ससार में, गोघातक को छोड़कर, और कोई भी कार्य करनेवाला मनुष्य अस्पृश्य नहीं है। शूद्र तो हमारा अन्न है। उनको शौच से रहना सिपलाओ, स्वयं भी धर्म के अङ्गों का धारण करो। ये आप ही धार्मिक बन जायेंगे। सब मिलकर अपने देश और धर्म के हित की ओर देखो। अपनी फूट को मिटाओ। शत्रुओं को उससे लाभ उठाने का मौका न दो।

चार आश्रम

साधारण तौर पर मनुष्य की अवस्था सौ वर्ण की मानी गई है। 'शतायुर्वै पुरुष' ब्राह्मण ग्रन्थोंका वचन है। महर्षियोंने इस सौ वर्ण की अवस्था को चार विभागों में विभाजित किया है। उन्हीं चार भागों को आश्रम कहते हैं। आश्रमों की आवश्यकता इस कारण से है, कि जिससे मनुष्य अपने इस लोक और परलोक के सब कर्त्तव्यों को नियमानुसार करे—ऐसा न हो कि एक ही प्रकार के कार्य में जिन्दगी भर लगा रहे। प्रत्येक आश्रम के कर्त्तव्य २०।२५ वर्ष में बांट दिये गये हैं। महाकवि कालिदास ने चारों आश्रमों के कर्त्तव्य संक्षिप्त रूप से, बड़ी सुन्दरता के साथ, एक श्लोक में बतला दिये हैं —

शैशवेऽभ्यस्तविद्याना यौवने विषयैपिणाम् ।

वार्धक्ये मुनिवृत्तीना योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥

प्रथम २५ वर्ष तक शैशवावस्था रहती है। इसमें विद्याध्ययन

एक वृक्ष पुरा महा प्रणवः सर्वव्याधिमया ।

इतो नारायणो बान्धवः शृङ्गोऽग्निर्वर्त्मनः वृक्ष इ ॥

श्रीमद्भगवत्

अथात् पहले सिर्फ एक वेद था सम्पूर्ण साहित्य सिर्फ एक प्रणव धीकार में ही आ जाता था ; सिर्फ एक नारायण ईश्वर था एक ही अग्नि था ; और एक ही वर्ण था । इसके सिवाय और कोई वेद नहीं था । मनुष्यों में राष्ट्रकार्य की सुविधा के लिए अब चार कर्मों की व्यवस्था हुई, तब चार वर्ण बने । महा भारतमें भी यही कहा है ।

य विद्येयोऽस्ति कर्त्तव्यं सर्वं आश्रमिर्वात्म्यम् ।

यज्जना पूर्वसुखं हि कर्म्मनिर्बन्धतां गतम् ॥

महामरय

अथात् वर्णों में कोई विशेषता नहीं, सारा संसार परमात्मा का रहा हुआ है । कर्म के कारण से चार वर्णोंकी सृष्टि हुई है ।

अब अधिक सिखना आवश्यक नहीं है । आश्रमछ हो चार वर्णका अगह पाँच वर्ण तक हो गये हैं—और एक वर्ण अत्यन्त कष्टकर अत्यर्थ भी माना जाता है । यह क्या मारी पाप है । भग्य मां हजारों जातिमें बरपन हो गये हैं जिनसे राष्ट्र की एकता छिन्नभिन्न हो गई है । शत्रु इससे छान उठाकर हमका और हमारे धर्म को और भी बरबाद कर रहे हैं । हम पूछते हैं कि यह पंचम वर्ण और जातिपैरे के हजारों वेद क्यों से भाये ? यह सब हमारी मूर्खता और अज्ञानता का फल है । मनुजी ने कहा है —

आश्रम्य ऋषिर्वा वैशा क्वो कर्म्मं हिजातवः ।

चतुर्ष्वेक आश्रित्य शूद्रो वास्ति तु पंचमा ॥

मनु ।

ब्राह्मण का कर्तव्य है कि वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तीनों वर्णों के बालकों का क्रमशः ५, ६ और ७ वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार कराके वेदारम्भ करा दे, शूद्रों को भी ब्रह्मचर्य द्वारा विद्याभ्यास करावे। उत्तम ब्रह्मचर्य ४८ वर्ष की अवस्था तक का होता है। इसको धारण करनेवाला आदित्य ब्रह्मचारी कहलाता है। इसके मुख पर सूर्य के समान कांति कलकती है। मध्यम ब्रह्मचर्य ४४ वर्ष की उम्र तक होता है, इसको रुद्र कहते हैं। यह ऐसा शक्तिशाली होता है, कि सज्जनों की दुष्टों से रक्षा करता है, और दुष्टों को दण्ड देकर खलाता है। निकृष्ट ब्रह्मचर्य २५ वर्ष तक की अवस्था का कहलाता है। इसको वसु कहते हैं। यह भी उत्तम गुणों को हृदय में धारण करता है। इसलिए आजकल कमसे कम २५ वर्ष की अवस्था तक पुरुषों को और १६ वर्ष की अवस्था तक स्त्रियों को अखंड-वीर्य रहकर विद्याभ्यास अवश्य ही करना चाहिए। इसके बाद गृहस्थाश्रम को स्वीकार करना चाहिए।

बालक और बालिकाएँ अलग अलग अपने अपने गुरुकुलों में विद्याभ्यास करें। अर्थात् जब तक वे ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी रहें, तब तक परस्पर स्त्री-पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्तसेवन, सम्भाषण, विषय-कथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान, और परस्पर सग, इन आठ प्रकार के मैथुनो का त्याग करें। स्वप्न में भी वीर्य को न गिरने दे। जब विषय का ध्यान ही न करेंगे, तो स्वप्न में भी वीर्य कैसे गिरेगा। आजकल पाठशालाओं में बालकगण हस्तक्रिया इत्यादि से वीर्य को नष्ट करके किस प्रकार अपने जीवन को बरबाद करते हैं, सो बतलाने की आवश्यकता नहीं। वीर्य की रक्षा न करने से

करना चाहिए। दूसरी बीबनावस्था है। इसमें सांसारिक विषयों का कर्तव्य पाठन करना चाहिए। इसके बाद बुढ़ापा शुरू हो जाता है। इस अवस्था में मुनिवृत्तिसे रहकर परमार्थ का मग्न करना चाहिए। इसके बाद मृत्यु के २५ वर्षों में योगाभ्यास करने शरीर छोड़ना चाहिए। इस नियम से यदि जीवन व्यतीत किया जायगा, तो मनुष्य-जीवनके चारों पुरुषार्थ अर्थात् धर्म धन काम, मोक्ष सङ्ग में सिद्ध हो सकेंगे।

ऋषियों ने इन चारों भागोंके नाम इस प्रकार रखे हैं —

(१) ब्रह्मचर्य, (२) गृहस्थ, (३) वानप्रस्थ, (४) संन्यास। अब इन चारों भागों का क्रमशः संक्षेपमें वर्णन किया जाता है—

ब्रह्मचर्य

विद्याभ्यास अथवा ईश्वर के लिए जिस व्रत का आचरण किया जाता है, उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। यह व्रत साधारणतया पुरुषों को २५ वर्ष की अवस्था तक और स्त्रियों को १३ वर्षकी अवस्था तक पालन करना चाहिए। यह नियम उन छात्रों के लिए है, जो आदि ब्रह्मचर्य गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहते हैं—और जो जीवनपर्यन्त ब्रह्मचारी रहना चाहते हैं, उनकी बात भ्रम है।

ब्रह्मचर्य का प्राप्त कर्तव्य यह है कि छत्र इन्द्रिया का संयम करके एक विद्याभ्यास में ही अपना पूरा ध्यान लगा दे। विशेषकर वीर्यकी रक्षा करते हुए छत्र विद्याओं का अभ्यस्य करे। धार्यरक्षा का महत्व भ्रमण एक पाठमें यथार्थ बताया गया है। इसलिये यहाँ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो वास्तव में हम सिर्फ ब्रह्मचारियों के कर्तव्यों का थोड़ा सा वर्णन करेंगे।

नहीं होती, और न देशके लिए लाभकारी होती है, इसका कारण यही है कि उनमें कष्ट-सहिष्णुताका भाव नहीं होता, और न उनको सच्ची कार्यकारिणी विद्या ही पढ़ाई जाती है। सिर्फ पुस्तकी विद्या पढ़कर रोटियों की फिक्रमें पड़ जाते हैं। ऐसी विद्या का त्याग करके प्राचीन ऋषिमुनियों के उपदेश के अनुसार सच्ची विद्या का अभ्यास करना चाहिए। मनुजी ने ब्रह्मचारी के लिए निम्नलिखित नियमों के पालन करने का उपदेश दिया है —

वर्जयेन्मधुमांसञ्च गन्ध माल्य रसान् स्त्रिय ।
 शुक्रानि यानि सर्वाणि प्राणिना चैव हिंसनम् ॥
 अभ्यगमजनं चाक्ष्णोहपानच्छत्रधारणम् ।
 कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥
 द्यूतं च जनघातं च परिवाद तथाऽनृतम् ।
 स्त्रीणां च प्रेक्षणात्मममुपघातं परस्य च ।
 एक शयीत सर्वत्र न रेत स्कन्दयेत्कचित् ।
 कामाद्धि स्कन्दयन्तो हीनस्ति व्रतमात्मन ॥

मनु०

मद्य, मांस, इतर-फुल्लेल, माला, रस-स्वाद, स्त्री-संग, सब प्रकार की खटार्ह, प्राणियों को कष्ट देना, अगों का मर्दन, बिना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श, आखों में अजन, जूते और छाले का धारण, काम, क्रोध, लोभ, नाच, गाना, बजाना, जुआ, दूसरेकी बात कहना, किसीकी निन्दा, मिथ्याभाषण, स्त्रियोंकी ओर देखना, किसी का आश्रय चाहना, दूसरे को हानि, इत्यादि कुकर्मों को ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी सदैव त्यागे रहें। सदा अकेले सोवें। कभी वीर्यको स्खलित न करे। यदि वे कभी जान-

हैं हमारा सम्मान की ऐसी अभोगति हो रही है। हमारे देश से गुरुता-धीरता बढ़ हो गई है और सम्मान बिनाकुल निर्यस्त तथा निष्कामी पैदा होती है। भगवान्‌ओं और गुरुओं का चाहिए कि वे स्वयं सदाचारी रहकर अपने शिष्यों को पित्रार गुरुपर और निर्मेय बनायें। इनको धीर्यरहा का महत्त्व समझ समझात हैं। मस्तु।

ब्रह्मचारियों को चाहिए कि वे ऐसा कोई कार्य न करें जिससे किसी को कष्ट हो। स्वयं का धारण करें। किसी की प्रिय वस्तु को लेने की इच्छा न करें। किसीसे कुछ न लें। धीर्य की रक्षा की ओर विशेष ध्यान दें। मन और शरीर का शुद्ध रखें। सन्तोषपूर्वक धारण करें। सत्कार्यों में कष्ट सहने का भावत हासों। परमात्मा की भक्ति अपने हृदय से कभी न छूटने दें। गुरु पर पूज्य प्रकट रखें। वृद्धों की सेवा भवश्यक करते हैं। परस्पर मधुर भाषण करें। एक दूसरे का हित चाहते हैं। पिचार्योंको सब प्रकारके सुख त्याग देने चाहिए। विदुषीतिमें कहा है—

अधार्मिका कुपो विद्या कुपो विद्याधर्मा उच्छ्र ।

अधार्मी वा त्वग्रहिणी विद्यार्थी वा त्वमेवकम् ॥

विदुषीति ५

अधाम् सुख चाहनेवाले का विद्या कहाँ, और विद्या चाहनेवाले को सुख कहाँ ? (दार्मों में बहुत भेद है) इसप्रकार जो सुख की परचा करे, ता विद्या पढ़ना छोड़ दे, और यदि विद्या पढ़ने की चाह हो ता सुख का छोड़ दे।

आठवक के हमारे काष्ठज और स्तुतों के विद्यार्थी, जो एत-भाराम में रहकर विद्या पढ़ते हैं, उनकी विद्या सफल

देने में कभी न चूको। श्रद्धा से, अश्रद्धा से, नाम के लिए, लज्जा के कारण, भय के कारण अथवा प्रतिज्ञा कर ली है, इसी कारण—मतलब, जिस तरह से हो, दो—देने में कभी न चूको। यदि कभी तुमको किसी कार्य में, अथवा किसी आचरण में, कोई शका हो, तो विचारशील, पक्षपातरहित, साधुमहात्मा, विद्वान्, व्यालु, धर्मात्मा पुरुषों के आचरण को देखो; और जिस प्रकार उनका वर्ताव हो, वैसा ही वर्ताव तुम भी करो। यही आदेश है। यही उपदेश है। यही वेद-उपनिषद् की आज्ञा है। यही शिक्षा है। इसी को धारण करके अपना जीवन सुधारना चाहिए।

विद्यार्थियों और ब्रह्मचारियों के लिए इससे अधिक अमृत तुल्य शिक्षा और क्या हो सकती है। हमारे देश के बालक और युवा यदि इसी प्रकार की शिक्षा पर चलकर, २५ वर्ष की अवस्था तक, विद्याभ्ययन करके तब ससार में प्रवेश किया करें, तो देश में फिर भी पहले की भांति स्वतन्त्रता आ सकती है। क्योंकि ब्रह्मचर्य आश्रम ही अन्य आश्रमों की जड़ है। इसकी ओर ध्यान न रहने से ही अगले अन्य तीनों आश्रमों की भी दुर्दशा हो रही है।

गृहस्थ

जिस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम सब आश्रमों की जड़ है, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम सब आश्रमों का आश्रय-स्थान है। इस आश्रम को ऋषियों ने सब से श्रेष्ठ बतलाया है। महर्षि मनु ने इसका महत्त्व वर्णन करते हुए कहा है —

यथा नदी नदा सर्वे सागरे यान्ति सत्स्थितिम् ।

तथैवाश्रमिण सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥

ब्रह्मकर धर्म को स्थापित कर देंगे, तो माना ब्रह्मचर्यमत का स्थापना करेंगे ।

यह महर्षि मनु की विधार्थियों के लिए ब्रह्मचर्य शिक्षा है । इसी प्रकार के नियमों का पालन करके जो स्त्री और पुरुष विद्याभ्यास करते हैं, वे विद्वान्, गुरुजोर, ईश्वरभक्त और परम-कारी पक्कर अपना मनुष्य-जीवन सार्थक करते हैं ।

तैत्तिरीय उपनिषद् में गुरु के लिए भी लिखा हुआ है कि वह अपने शिष्यों को किस प्रकार का उपदेश करे । उसका सारांश नीचे दिया जाता है ।

गुरु अपने शिष्यों और शिष्याधीन को इस प्रकार का उपदेश करे —

तुम सदा सत्य बोलो । धर्म पर बसो । पड़ने-पड़ाने में कमी मत देखो न करो । पूर्ण ब्रह्मचर्य से समस्त विद्याओं का अध्ययन करके अपने गुरुका उत्कार करो । और फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके सन्तानोत्पादन अवश्य करो । सत्य में भूख न करो । धर्म में भी कमी मत देखो न करो । आरोग्यता की ओर ध्यान रखो । सावधानी कमी न छोड़ो । धन धान्य इत्यादि ऐश्वर्य की वृद्धि में कमी न पूछो । पड़ने-पड़ाने का काम कमा न छोड़ो । छात्रों, विद्वानों और गुरुजनों की सेवा में न बूझो । माता पिता भाचार्य और धर्मपति की सेवा के समान पूजा करो । उनको समुप-रखो । जो बड़े कार्य हैं, उन्हें का सहा करो । बुरे कामों को छोड़ दो । और (गुरु कहता है) हमारे भी जो सुचरित्र हैं, धर्माचरण हैं, उन्हें का तुम अध्ययन करो, धर्मों का नहीं । हम लोगों में जो श्रेष्ठ विद्वान् पुरुष हैं, उन्हें के पास बैठो-उठो, और उन्हें का विश्वास करो । दान

देने में कमी न चूको । श्रद्धा से, अश्रद्धा से, नाम के लिए, लज्जा के कारण, भय के कारण अथवा प्रतिज्ञा कर ली है, इसी कारण—मतलब, जिस तरह से हो, दो—देने में कमी न चूको । यदि कमी तुमको किसी कार्य में, अथवा किसी आचरण में, कोई शका हो, तो विचारशील, पक्षपातरहित, साधुमहात्मा, विद्वान्, दयालु, धर्मात्मा पुरुषों के आचरण को देखो, और जिस प्रकार उनका वर्ताव हो, वैसा ही वर्त्ताव तुम भी करो । यही आदेश है । यही उपदेश है । यही वेद-उपनिषद् की आज्ञा है । यही शिक्षा है । इसी को धारण करके अपना जीवन सुधारना चाहिए ।

विद्यार्थियों और ब्रह्मचारियों के लिए इससे अधिक अमृत तुल्य शिक्षा और क्या हो सकती है । हमारे देश के बालक और युवा यदि इसी प्रकार की शिक्षा पर चलकर, २५ वर्ष की अवस्था तक, विद्याभ्ययन करके तब सत्सार में प्रवेश किया करें, तो देश में फिर भी पहले की भांति स्वतन्त्रता आ सकती है । क्योंकि ब्रह्मचर्य आश्रम ही अन्य आश्रमों की जड़ है । इसकी ओर ध्यान न रहने से ही अगले अन्य तीनों आश्रमों की भी दुर्दशा हो गयी है ।

गृहस्थ

जिस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम सब आश्रमों की जड़ है, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम सब आश्रमों का आश्रय-स्थान है । इस आश्रम को ऋषियों ने सब से श्रेष्ठ बतलाया है । महर्षि मनु ने इसका महत्व वर्णन करते हुए कहा है —

यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।

तथैवाश्रमिण सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥

पद्मा वायु समामित्वा वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
 तद्वा गृहस्थसमाधित्वा वर्तन्ते सर्व मात्रमाः ॥
 पद्मात्कपोत्पामगिनो ह्यनेनान्येन चान्वहम् ।
 गृहस्थेनैव चार्तन्ते तद्व्याज्येडाजसो गृही ॥
 ४ संवाच्योः प्रकलेन स्वर्गमश्नुष्यन्निष्ठाः ।
 तस्य चार्च्यया तित्वा चोन्वाच्ये, पुर्वेभिर्द्रव्यैः ॥

मनु०

अर्थात् जैसे सब नदी-नहर समुद्र में जाकर आश्रय पाते हैं, वही प्रकार सब आश्रमोंके छोड़ कर गृहस्थ आश्रम में जाकर आश्रय पाते हैं ॥ १ ॥ जैसे वायु का आश्रय छेकर सारे प्राणी वर्तते हैं, वही प्रकार गृहस्थ का आश्रय छेकर सब आश्रम वर्तते हैं ॥ २ ॥ ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और संन्यासी तीनों आश्रमोंवाले लोगों को गृहस्थ ही अपने दान भलादि से धारण करता है, इससे गृहस्थ ही सब आश्रमों में श्रेष्ठ अर्थात् पुरस्कार है ॥ ३ ॥ इस छिपे ओ मनुष्य मोक्ष और सांसारिक सब सुखों की इच्छा रखता हो उसको बड़े प्रयत्न के साथ गृहस्थाश्रम धारण करना चाहिए । क्योंकि यह आश्रम पुर्वेभिर्द्रव्य-अर्थात् कमजोर लोगों के धारण करने योग्य नहीं है ॥ ४ ॥

महर्षि मनु का पिछला वाक्य आश्रमछेड़ के लोगों का बुरा समझ लेना चाहिए । क्योंकि यदि ब्रह्मचर्याश्रम का भण्डारी तरह से पालन नहीं किया है—अपने शरीर और मन को बुरा बख्खान् नहीं बनाया है, और सांसारिक व्यवहारों का समुचित रूप से धनाने का सामर्थ्य तथा विद्याबल, नहीं प्राप्त किया है तो गृहस्थ आश्रम के धारण करने में दुर्गति ही है । यही दशा में न तो शूर-वीर और बुद्धिमान, समताम ही उत्पन्न हो सकती है, और न गृहस्थी का बौद्ध समझकर अन्य आश्रमों की सेवा

ही की जा सकती है। कमजोर कंधे इतना भारी बोझ कैसे सम्हाल सकते हैं।

इस लिए हमारे देश के सब नवयुवक और नवयुवतियों को पहले ब्रह्मचर्याश्रम का यथाविधि पालन करके, तब विवाह करके, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए। विवाह करते समय इस बात का ध्यान रहे कि घर-वधू का जोड़ा ठीक रहे। दोनों सद्गुणी, विद्वान्, बलवान्, ब्रह्मचारी और गृहस्थों का भार सम्हालने योग्य हों। विवाह का मतलब इन्द्रिय-सुख नहीं है, किन्तु शूरवीर और परोपकारी सन्तान उत्पन्न करके देश का उपकार करना है। इस लिए जब पति-पत्नी दोनों सुयोग्य होंगे, तभी गृहस्थाश्रम में वे स्वयं सुखी रह सकेंगे, और अपने देश का उपकार भी कर सकेंगे। महर्षि मनु ने कहा है —

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्ता भाग्या तथैव च ।

यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वैधुषम् ॥

मनु०

अर्थात् जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुलमें निश्चित रूप से कल्याण रहता है। वही कुल धन-दौलत, सुख-आनन्द, यश-नाम पाता है। और जहां दोनों में कलह और विरोध रहता है, वहां दुःखदरिद्रता और निन्दा निवास करती है। इस लिए विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीर इत्यादि सब बातों का विचार करके ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियों का परस्पर विवाह होना चाहिए। अथर्ववेद में कहा है :—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।

अथर्व०

अर्थात् कम्या भी यथाविधि ब्रह्मचर्य मत का पालन करके
अर्थात् संयम से रहकर विद्याभ्यास करके—अपने योग्य युवा
पत्निके साथ विवाह करे। स्त्री को सोलह वर्ष के पहले और
पुरुष को पचास वर्ष से पहले अपने रख और शरीर को किसी
दृष्टा में भी बाहर न निकलाने देना चाहिए। विवाह के बाद
गमाधान संस्कार की अवस्था यही बतलाई गई है। सुश्रुत में
लिखा है :—

ऊनपोष्यवर्षानामप्राक् पञ्चविंशतिम् ।

वयस्यते युवायु यमं कृद्भिन्नाः स विपत्तः ॥

अर्थात् २५ वर्ष से कम उम्रवाला पुरुष यदि सोलह वर्ष से कम
उम्रवाली स्त्री में गर्माधान करता है, तो वह गर्भ पेट में ही
निपटस्य नहीं रहता। अर्थात् गर्भपात हो जाता है, और यदि
बच्चा पैदा भी होता है, तो जल्दी मर जाता है, और यदि जिन्दा
भी रहता है, तो दुर्बलेश्चन्द्रिय और पृथ्वी का भार होकर जीता
है। मात्र-कल ब्रह्मचर्य का ठोक-ठीक पालन न होने के कारण
हमारे देश की सन्तान की यही दशा हो रही है।

मस्तु। गृहस्थाश्रम में आकर मनुष्य को धर्म के साथ,
अपने अपने वर्णानुसार, कर्तव्यों का पालन करना चाहिए।
गृहस्थी में रहकर भी पुरुषको ब्रह्मचारी रहना चाहिए। आप
कहेगी कि गृहस्थ कौता ब्रह्मचारी? इस प्रश्न का उत्तर मनुजी
ने दिया है—

अनुकलाभिमानी स्वात्मकारविरुद्धः कदा ।

पर्यवर्तं नरोज्यैर्ना तद् भवति रतिभ्राम्यता ॥

मिथ्यास्वप्नायु चान्धाह शिषो रात्रिषु वर्जकम् ।

ब्रह्मचर्येण भवति यत्र तन्नामने बलम् ॥

इसका सारांश यह है कि, जो पुरुष सदा अपनी ही स्त्री से प्रसन्न रहकर ऋतुगामी होता है और गर्भ रहनेके बाद तथा सन्तान उत्पन्न होनेपर भी वच्चा जवतक माताका स्तन पान करता रहे तबतक स्त्री को वचाता है और गर्भ रहनेके बाद फिर स्त्री को वचाता है, वह गृहस्थ होकर भी ब्रह्मचारी ही के समान है। जितने ऋषिमुनि और महापुरुष गृहस्थाश्रमी हुए हैं, वे सब इसी प्रकार से रहते थे। पुरुषों को अपने घर में स्त्रियों के साथ कैसा वर्त्ताव करना चाहिए, इस विषय में महर्षि मनु का उपदेश अमूल्य है —

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैता पतिभिर्देवैस्त्वया ।

पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता ।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफला क्रिया ॥

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।

न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सम्पदा ॥

तस्मादेता सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।

भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेपूस्वेषु च ॥

मनु०

अर्थात् जो पिता, भाई, पति और देवर अपने कुल का सुन्दर कल्याण चाहते हों, वे अपनी लड़कियों, बहिनों, पत्नियों और भौजाइयों को सत्कारपूर्वक, भूषणादि सब प्रकार से, प्रसन्न रखें, क्योंकि जहाँ स्त्रियाँ प्रसन्न रखी जाती हैं, वहाँ देवता रमते हैं—सब प्रकार से सुख रहता है, और जहाँ वे प्रसन्न नहीं रखी जाती वहाँ कोई काम सफल नहीं होता। जिस कुल में स्त्रियाँ दुखी रहती हैं, वह कुल शीघ्र ही नाश हो जाता है, और जहाँ वे सुखी रहती हैं, वहाँ सुखसम्पदा बढ़ती रहती है। इसलिए

जा छोड़ भयभीत घर का पेशेवर्य 'बाहरी' हैं, उसको उचित है कि, वे वस्त्र-भ्राम्यण और भोजन इत्यादि से इनको समस्त प्रसन्न रहें। विधि-स्योहार और उत्सवों पर इनका आस तौर पर उत्साह किया करें।

मनुजी की इस शिक्षा को प्रत्येक मनुष्य गाँठ में बाँध ले, तो उसका व्यवसाय क्यों न हो ?

स्त्रियों का व्यवसाय भी मनुजी ने बहुत सुन्दर बताया है। माप कहते हैं :—

यदि हि की न रोयेत पुत्रास्तत्र (मोक्षयेत्)।

अपमोक्षस्तुतः पुत्रा प्रसन्न न प्रसन्ते ॥

स्त्रियां तु रोक्मावाचां सर्वं लोकोत्तमम्।

तत्रां त्वरोक्मावाचां स्तुतिश्च न रोक्ते ॥

म्बु

अर्थात् यदि स्त्री भयभीत पति से प्रेम न करेगी, उसको प्रसन्न न रहेगी तो पुत्र भी शोकके भार से उसका मन व्यग्रस्थित न होगा; और न काम उत्पन्न होगा। (येही ही वृथा मैं पुरुषोंका किन्तु स्त्रियोंसे हट जाता है; और कोई कोई पुरुष दुराचारी भी हो जाते हैं) स्त्रियों के कर्ण प्रसन्न रहने—और सब के प्रसन्न रहने—से ही सब घर-भर प्रसन्न रहता है, और उनकी अप्रसन्नता में सब दुःखदायक मानस होता है। इसलिये मनुजी कहते हैं कि —

सदा प्रसन्नता ध्यात्वा पुरुषार्थेषु रक्षणा।

कर्मलुप्तोपश्रवणा नये चाशुकरुचया ॥

म्बु

स्त्री को सदा प्रसन्न रहना चाहिये, और घर का काम नूतन वस्तुपूर्वक करना चाहिये। सब सामान जहाँ का वहाँ सफाई

के साथ, रखना चाहिए, और खर्च हाथ सम्हालकर करना चाहिए।

स्त्रियों के विगडने के छै दूषण मनुजी ने बतलाये हैं, उनसे स्त्रियों को बचना चाहिए। पुरुषों को उचित है कि इन दूषणों में अपने घर की स्त्रियों को न फँसने दें —

पानं दुर्जनसंसर्गं पत्या च विरहोऽनमम् ।

स्वप्नोन्मोहवासश्च नारीसन्दूषणानि पट् ॥

मनु०

अर्थात् मद्य, भङ्ग, इत्यादि मादक द्रव्यों का पीना, दुष्टपुरुषों का संग, पतिवियोग, अकेले जहाँ-तहाँ पाखण्डी साधुसन्तों के दर्शन के मिस से घूमते रहना, तथा पराये घर में जाकर शयन करना, ये छै दूषण स्त्रियों को विगाड़नेवाले हैं। स्त्री, और पुरुषों को भी, इनसे बचना चाहिए।

मनुष्य के धर्म-कर्त्तव्य इस पुस्तक में जगह जगह बतलाये गये हैं। उनमें से अधिकांश गृहस्थ के लिए ही हैं। इस लिए यहाँ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। एक कवि ने गृह-स्थाश्रम की धन्यता का वर्णन करते हुए एक श्लोक कहा है, उसको लिख देना पर्याप्त होगा —

सानन्तं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता न दुर्भाषिणी ।

सन्मित्रं सुधनं स्वयोपितरतिश्चाज्ञापरा सेवक ॥

आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे ।

साधो संगमुपासते हि सततं धन्यो गृहस्थाश्रम ॥

अर्थात् आनन्दमयी घर है, पुत्र पुत्री इत्यादि बुद्धिमान् हैं, स्त्री मधुरभाषिणी है, अच्छे अच्छे मित्र हैं, सुन्दर धन-दौलत है, अपनी ही स्त्री से, और अपने पुरुष से, प्रीति है, अर्थात्

श्री-गुरुस्य धर्मिण्यारी नहीं है, नौकर लोग भाषाकारी है, भक्तिधि धर्म्यागत का निरूप्य सत्कार होता रहता है परमेश्वर की भक्ति में सब धर्मों हैं, गुरुवर गुरुवर भोजन करते खिलाते हैं, सामुग्री और पिछानों का सत्संग करके सर्वेय उनसे गुरुवर उपदेश ग्रहण करते रहते हैं। ऐसा जो गृहस्थाधम है, उसको धर्म्य है। यही स्वर्ग है। प्रत्येक गृहस्थ का उपर्युक्त कर्तव्य पावन करके अपनी गृहस्थी को स्वर्गाधम बनाना चाहिए।

वानप्रस्थ

गृहस्थाधम सब धर्मों का भाष्यदाता है परन्तु वहीं तक मनुष्य का कर्तव्य समाप्त नहीं है। इसके बाद वानप्रस्थ और संन्यास, दो धर्म्य भी हैं, जिनमें मनुष्य को बचछे जन्म की तैयारी विशेष रूप से करनी चाहिए। प्रत्येक करके हुए ईश्वर का प्रणाम निरन्तर करते रहना ही मनुष्य के उत्तरार्द्ध जीवन का कर्तव्य है। इसके बिना उसका जीवन सार्थक नहीं हो सकता। वानप्रस्थ ब्राह्मण में कहा है —

आचार्योऽयं समाप्तं गृही भवेत् ।

गृही यज्ञा क्वी भवेत् ।

क्वी यज्ञा अभिषेक् ॥

अथवा गार्ग्य

अर्थात् आचार्य धर्म्य को समाप्त करके गृहस्थाधम धारण करो गृहस्थाधम का कर्तव्य करके, अङ्गुष्ठ को कटी आधो, और अङ्गुष्ठ में कलम के बाद अन्तर्गर्भ परिमाणक संन्यासी बनो। वानप्रस्थ धर्म्य सब ग्रहण करना चाहिए, इस विषय में मनुष्य कहते हैं—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्रूपलोलितमात्मन ।

अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्य समाधयेत् ॥

मनु०

अर्थात् गृहस्थ जब देखे कि, हमारे बाल पक गये, और शरीर की खाल ढीली पडने लगी, तथा सन्तान के भी सन्तान (नाती-नातिन) हो चुको, तब वह घर छोड़कर वन में जावे, और वहाँ वानप्रस्थ के नियमों से रहे। वे नियम मनुजी ने इस प्रकार बतलाये हैं :—

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।

पुत्रेषु भार्या नि क्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥

अग्निहोत्रं समादाय गृह्य चाग्निपरिच्छदम् ।

ग्रामादरण्यं नि सृत्य निवसेन्नियतेन्द्रिय ॥

मुन्यन्तेर्विधिधैर्मध्यै शाकमूलफलैश्च वा ।

एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥

मनुस्मृति ।

घर और गाँव के सब उत्तमोत्तम भोजनों और वस्त्रों को छोड़कर, स्त्री को पुत्रों के पास रखकर, अथवा यदि सम्भव हो, तो अपने साथ लेकर, वन में चला जाय। वहाँ अग्निहोत्र इत्यादि धर्मकर्मों को करते हुए, इन्द्रियों को अपने वश में रखते हुए, निवास करे। पसार्द के चावल, रामदाना, नाना प्रकार के शाक, फल, मूल, इत्यादि फलाहारी पदार्थों से पचमहायज्ञों को करे, और यज्ञों से बचा हुआ पदार्थ स्वयं सेवन करके मुनिवृत्ति से रहे। परमात्मा का सदैव चिन्तन करता रहे।

इसके सिवाय वानप्रस्थ के और भी कुछ कर्तव्य हैं, और वे हैं परोपकार-सम्बन्धी, क्योंकि परोपकार मनुष्य से किसी

माध्म में भी छुटता नहीं है। महर्षि मनु कहते हैं —

स्वाध्याये निष्कण्ठः स्वाध्यायो मेधा समारिक्तः ।

इति निष्कमवादात्ता सर्वभूतानुत्तमः ॥

अथवा उक्तार्थेण पञ्चपापी बधस्तथा ।

धारयेत्तन्मन्त्रेण ब्रह्मकृतिभिरपि ॥

मनु

स्वाध्याय, अर्थात् पढ़ने-पढ़ाने में सदा लगा रहता है। इन्द्रियों और मन को सब प्रकार जीतकर अपनी आत्मा को परा में कर लेता है। संसार का मित्र बन जाता है। इन्द्रियों को बाह्य और से जीतकर ईश्वर और संसार के हित में लगा देता है। विद्यादानादि से जंगल के निवासियों का हित करता है, और ग्राम के जिन लोगों से सम्पर्क रहता है, उनको भी विद्या दानादि से काम पहुँचाता है। सब प्राणियों पर दया करता है। अपने सुख के लिए कोई भी प्रयत्न नहीं करता। अन्नचर्ययश्च का धारण करता है। अर्थात् यदि अपनी स्त्री भी साथ में रहती है, तो उससे भी कोई काम बेधा नहीं करता। पृथ्वी पर सोता है। किसी से मोह-भ्रमता नहीं रहता। सब को समान दृष्टि से देखता है। ब्रह्म के भीचे ओपकी में रहता है।

मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्मस्य माध्म धारण करनेवाले के लिए कहाया गया है —

उपनिषद् ने ब्रह्मस्यस्यै ब्रह्म विद्वांसो मेवैवर्णा वरन्ता ।

सर्वज्ञातेन ते विद्या प्रदानि ब्रह्मस्यै च कुर्वते ब्रह्मस्यैव ॥

मुण्डकोपनिषद् ।

अर्थात् जो ब्रह्म विद्वान् लोग सत्कर्मापुष्टान् करते हुए, स्वर्ग का सहकर परोपकार करते हुए, मित्रा से अपना निर्वाह करते हुए, मन में रहते हैं, वे विवेक होकर, प्राणद्वार से उस

परम पुरुष, अविनाशी परमात्मा को प्राप्त करके आनन्दित होते हैं।

आजकल प्रायः लोग गृहस्थाश्रम में ही बेतरह फँसे हुए मृत्यु को प्राप्त होते हैं—निश्चिन्त होकर परोपकार और ईश्वर-चिन्तन में अपना कुछ भी समय नहीं देते। इससे पुनर्जन्म में उनको आनन्द प्राप्त नहीं होता। इसी लिए महर्षियों ने गृहस्थ के बाद दो आश्रमों का विधान करके—आधी आयु परोपकार और ईश्वर-चिन्तन में बिताने का आदेश करके—मनुष्य की परम उन्नति का द्वार खोल दिया है। सब लोगों को इस आदेश पर चलकर लोक-परलोक सुधारना चाहिए।

संन्यास

यह मनुष्य का अन्त का आश्रम है। इसके विषय में महर्षि मनु कहते हैं—

वनेषु च विद्वत्यैवं तृतीयं भागमायुष ।

चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत् ॥

मनु०

अर्थात् आयु का तीसरा भाग वन में व्यतीत करने के बाद जब चतुर्थ भाग शुरू हो, तब वन को भी छोड़ देवे; और सर्वसङ्ग-परित्याग करके—यदि स्त्री साथ में हो, तो उसको भी छोड़कर—परिव्राजक बन जावे। यों तो परिव्राजक बननेके लिए कोई समय नहीं है, जब पूर्ण वैराग्य प्राप्त हो जाय, तभी वह संन्यासी हो सकता है। ब्राह्मण ग्रन्थों का ऐसा ही मत है—

यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद्वानाद्वा गृहाद्वा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् ।

अर्थात् जिस दिन वैराग्य प्राप्त हो जाय, उसी दिन—चाहे वह वन में हो चाहे घर में हो—संन्यास ले सकता है—ब्रह्मचर्य

आश्रम में भी दृष्टता नहीं है। महर्षि मनु कहते हैं —

स्वाध्याये निश्चिन्ता स्वाहागन्तो मेवः सम्पदिकः ।

वाता विरचयन्वावाता सर्वभूतानुग्रहकः ॥

भयम्भः उकार्येण मन्वापरी वराधनः ।

हरनेष्वममरचेव वृक्षमूकनिर्भयः ॥

मनु

स्वाध्याय, अर्थात् पढ़ने-पढ़ाने में सदा लगा रहता है। इन्द्रियों और मन को सब प्रकार जीतकर अपनी आत्मा को क्या मैं कर देता है। संसार का मित्र बन जाता है। इन्द्रियों को बाहों और से जीतकर ईश्वर और संसार के द्वि में लगा देता है। विद्यादानादि से जंगल के निवासियों का द्वि करता है, और ग्राम के जिन लोगों से सम्पर्क रहता है, उनको भी विद्या दानादि से लाभ पहुँचाता है। सब प्राणियों पर दया करता है। अपने सुख के लिए कोई भी प्रयत्न नहीं करता। प्रत्यक्षपक्ष का धारण करता है। अर्थात् यदि अपनी स्त्री भी साथ में रहती है, तो उससे भी कोई काम बेधा नहीं करता। पृथ्वी पर सोता है। किसी से मोह-ममता नहीं रहता। सब को समान दृष्टि से देखता है। वृक्ष के नीचे झोपड़ी में रहता है।

मुष्कन्धोपनिषद् में ब्रह्मसत्य आश्रम धारण करनेवाले के लिए कहा गया है —

वसन्तः वे ह्य वसन्तत्वरणे ब्रह्मा विद्मो वैश्वकर्मा वरन्तः ।

सूर्योदयः ते विद्या प्रदानि ब्रह्मसुतः स पुरतो ब्रह्मसत्मा ॥

मुष्कन्धोपनिषद् ।

अर्थात् जो शान्त विद्वान्, सीधे सत्कर्मानुष्ठान करते हुए, स्वयं कष्ट सहकर परोपकार करते हुए, मित्रा से जपना निर्बाध करते हुए, मन में रहते हैं वे निमेष होकर, प्राणद्वार से, उस

परम पुरुष, अविनाशी परमात्मा को प्राप्त करके आनन्दित होते हैं।

आजकल प्रायः लोग गृहस्थाश्रम में ही बेतरह फँसे हुए मृत्यु को प्राप्त होते हैं—निश्चिन्त होकर परोपकार और ईश्वर-चिन्तन में अपना कुछ भी समय नहीं देते। इससे पुनर्जन्म में उनको आनन्द प्राप्त नहीं होता। इसी लिए महर्षियों ने गृहस्थ के बाद दो आश्रमों का विधान करके—आधी आयु परोपकार और ईश्वर-चिन्तन में बिताने का आदेश करके—मनुष्य की परम उन्नति का द्वार खोल दिया है। सब लोगों को इस आदेश पर चलकर लोक-परलोक सुधारना चाहिए।

संन्यास

यह मनुष्य का अन्त का आश्रम है। इसके विषय में महर्षि मनु कहते हैं —

वनेषु च विदित्यैवं तृतीयं भागमायुष ।

चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत् ॥

मनु०

अर्थात् आयु का तीसरा भाग वन में व्यतीत करने के बाद जब चतुर्थ भाग शुरू हो, तब वन को भी छोड़ देवे, और सर्वसङ्ग-परित्याग करके—यदि स्त्री साथ में हो, तो उसको भी छोड़कर—परिव्राजक बन जावे। यों तो परिव्राजक बननेके लिए कोई समय नहीं है, जब पूर्ण वैराग्य प्राप्त हो जाय, तभी वह संन्यासी हो सकता है। ब्राह्मण ग्रन्थों का ऐसा ही मत है —

पदहरेष विरजेत्तदहरेष प्रव्रजेद्धानाद्वा गृहाद्वा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् ।

अर्थात् जिस दिन वैराग्य प्राप्त हो जाय, उसी दिन—चाहे वह वन में हो चाहे घर में हो—संन्यास ले सकता है—ब्रह्मचर्य

भय से हम विशेष नहीं लिख सकते। तथापि निम्नलिखित श्लोक से कुछ कुछ उसका आभास मिल जायगा —

अनाश्रित कर्मफलं कार्यं कर्म करोति य ।

स संन्यासी च योगी च न निरमिर्न चाक्रिय ॥

भगवद्गीता ।

अर्थात् कर्म-फल का आश्रय छोड़कर जो महात्मा सब धार्मिक कर्मों को बराबर करता रहता है, वही संन्यासी है, और वही योगी है। जो लोग कहते हैं कि, अब तो हम संन्यासी हो गये, अब हमको कोई कर्त्तव्य नहीं रह गया—अग्निहोत्रादि धर्मकार्यों से अब अपने रामको क्या मतलब है। ऐसा कहने-वाले साधु-संन्यासी भगवान् कृष्ण के उपर्युक्त कथन का मनन करें। भगवान् कहते हैं कि, परोपकारादि सब धार्मिक कार्य संन्यासी को भी करना चाहिए, परन्तु उसके फल में आसक्ति न रखना चाहिए। बिल्कुल अकर्मण्य बनकर, अग्निहोत्रादि धर्मकार्यों को छोड़कर, बैठनेवाला मनुष्य संन्यासी कदापि नहीं हो सकता।

संन्यासी के लिए अपना कुछ नहीं रहता। सारा ससार उसको ईश्वरमय दिखलाई देता है, और वह जो कुछ करता है, ईश्वरप्रीत्यर्थ करता है। सब प्रकार की सासारिक कामनाओं को वह छोड़ देता है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है —

पुत्रैषणायाश्च धितैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथमिक्षाचर्यं चरन्ति ।

शतपथ ब्राह्मण

अर्थात् संन्यासी लोग स्त्रीपुत्रादि का मोह छोड़ देते हैं, धन की उनको कोई परवा नहीं रहती, यश की उनको चाह नहीं

रहती—य सबसंगपटित्याग करके, मिथारण करते हुए, रात्रि न मोक्ष-साधन में लगी रहती है।

महर्षि मनु ने भी अपनी मनुस्मृति में संन्यासी के रत्न सङ्ग और कर्तव्यों का वर्णन करते हुए लिखा है—

स्वच्छेष्टावसायमग्नौ वाही दृष्टी कुलम्भनात् ।
 विभोन्मिषतो हितं सर्वमृणाम्परीक्षत् ॥
 मृदुष्कण्ठं च प्रतिजुप्सेदाहुष्यः कुमर्हं वरत् ।
 स्रग्धरापकरीर्णं च न वाच्यमर्थं वरत् ॥
 दमिपुत्रं न्वेत्स्यात् वज्रहस्तं अहं पितर ।
 सत्यपुत्रं वरद्वारं मन्त्रहस्तं समाचरेत् ॥
 भविष्येन्निद्रासङ्गं वैदिकैस्त्वैव कर्मणि च ॥
 लल्लवराजैश्चोपैत्यावकन्तीह लक्ष्म्य ॥
 श्लेष विविधा सर्वोत्पन्नत्वा संगान् सर्वैः कृतैः ।
 सर्वज्ञहविर्भिन्नोऽयं कर्मण्येवावशिष्यते ॥

मनु ।

अर्थात् केश, नख, दाढ़ी मूक इत्यादि छेदन करके सुन्दर पात्र दण्ड और कुसुम इत्यादि से रंगि हुए वस्त्र धारण करे, और फिर सब प्राणिमों को मुक्त बैठे हुए, स्वयं भी प्राणत्वस्वरूप होकर, विचरण किया करे। अब कहीं उपदेश भयना संन्यास इत्यादि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे, यथवा उसकी निन्दा करे, तो संन्यासी को उचित है कि, माय रूप्य चढ़के मैं उसके ऊपर क्रोध न करे, बल्कि अध्यन्त शान्ति धारण करके उसके कल्याण का ही उपदेश करे, और एक मुक्त के, दो वासिका के, दो भाँकों के और दो काशों के छिरी में फिटरी हुई—स्रग्धरापकरीर्ण—दाढ़ी को कमी, किसी कृशा में भी मिथ्या बोलने में न लगावे। संन्यासी अब मार्ग में चले, सब दूधर-उधर न देखे

कर नीचे पृथ्वी पर दृष्टि रखकर चले। सदा वस्त्र से छानकर जल पीवे। सदा सत्य से पवित्र वाणी बोले। सदा मन से विवेक करके, सत्य का ग्रहण करके और असत्य का त्याग करके आचरण करे। किसी प्राणी को कभी कष्ट न दे, न किसी की हिंसा करे, इन्द्रियों के सब विषयों को त्याग दे, वेद में जो धार्मिक कर्म, विद्यादान, परोपकार, अग्निहोत्रादि बतलाये गये हैं, उनका यथाविधि आचरण करे, खूब कठोर तपश्चर्या धारण करे—अर्थात् सत्कर्मों के करनेमें खूब कष्ट उठावे, लेकिन दूसरे किसी को उसके कारण कष्ट न होने पावे। इस प्रकार आचरण करके सन्यासी परमपद को पा सकता है। इस प्रकार धीरे धीरे सब सांगदोषों को छोड़, हर्ष-शोक, सुख-दुख, हानिलाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, शीत-उष्ण, भूख-प्यास इत्यादि जितने द्वन्द्व हैं, उनसे मुक्त होकर, सन्यासी परमात्मा परब्रह्ममें स्थित होता है।

सन्यासी के ऊपर भी बड़ी जिम्मेदारी है—वह स्वयं अपने लिए मोक्ष का आचरण करे, और अपने ऊपर वाले अन्य तीनों आश्रमों से भी धर्माचरण करावे, सब के साशयों को दूर करे। सत्य उपदेश से सबको सन्मार्ग पर चलावे। धर्म के दश लक्षण जो मनुजी ने बतलाये हैं, और जिनका इस पुस्तक में अन्यत्र वर्णन हो चुका है, वे चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लिए बराबर आचरणीय हैं। मनुजीने इस विषयमें कहा है—

चतुर्भिरपि चैवैवैर्नित्यमाश्रमभिर्दिष्टैः ।

दशलक्षणको धर्म सेवितव्यं प्रयत्नतः ॥

मनु०

अर्थात् धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि-विवेक, विद्या, सत्य, अक्रोध, इन दस लक्षणों से पूर्ण धर्म का

आचरण अत्यन्त प्रयत्न के साथ चारों ही वर्णों और आश्रमों को करना चाहिए। संन्यास का यहाँ कथन है कि सर्व अष्टाङ्ग रूप से परमात्मा में विलीन रहने हुए, सारे संसार को इस धर्म पर चलने का उपदेश करे।

पांच महायज्ञ

आपे हिन्दू जाति के नियम के धार्मिक कृत्यों में पाँच महायज्ञ मुख्य हैं। मनु महाराज ने अपनी स्मृतिके तीसरे अध्याय में लिखा है कि प्रत्येक पुरुष से पाँच प्रकार की हिंसाय प्रति दिन अव्याप्य होती रहती है—(१) बूढ़ा (२) बच्चा (३) मादू (४) आलसी-मूर्ख और (५) बड़ा इत्यादि के द्वारा। सो इन पापों के प्रापश्चित के लिए महर्षियों ने पाँच महायज्ञों का विधान किया है। महर्षि मनु ने लिखा है कि जो पुरुष पञ्च महायज्ञों का यथाशक्ति त्याग नहीं करता वह पुरुष में बसता हुआ भी हिंसा के दोषों में विलीन नहीं होता। ये पाँच महायज्ञ इस प्रकार हैं—

अपिण्ड देण्ड मृत्यञ्च च सर्वदा ।

पुण्यं पितृण्य च न्यायति च शाक्यम् ॥

मनु

अर्थात् (१) अपिण्ड (२) देण्ड (३) मृत्यञ्च (४) पुण्य (५) पितृण्य इनकी यथाशक्ति छोड़ना न चाहिए। इनकी म्हा यह इसलिये कहा है कि अन्य पक्ष तो नैमित्तिक हुआ करते हैं, परन्तु ये नियम के कसब्य हैं, और मनुष्य के वैयक्तिक जीवन से इनका गहरा सम्बन्ध है। ये महायज्ञ यदि नियम विधिपूर्वक यथा के साथ किये जाते हैं, तो मनुष्य का जीवन उत्तरोत्तर

उन्नत और पवित्र होता जाता है, और अन्त में वह मोक्ष का अधिकारी होता है।

(१) ऋषियज्ञ

इसको ब्रह्मयज्ञ भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत स्वाध्याय और सन्ध्योपासन ये दो कर्म आते हैं। स्वाध्याय के दो अर्थ हैं। एक तो यह कि मनुष्य प्रातःकाल और सायंकाल प्रतिदिन कुछ धार्मिक ग्रन्थों का पठन-पाठन और मनन अवश्य करे। इससे उसके दुर्गुणों का क्षय होगा, और सद्गुणों की वृद्धि होगी। और दूसरा अर्थ “स्वाध्याय” का यह है कि मनुष्य स्वयं अपने आप का अध्ययन साय-प्रातः अवश्य करे—अपने सद्गुणों और दुर्गुणों का मन ही मन विचार करे, तथा दुर्गुणों को छोड़ने और सद्गुणों को बढ़ाने की प्रति दिन प्रतिज्ञा और प्रयत्न करे। यह ऋषियज्ञ अथवा ब्रह्मयज्ञ का एक अङ्ग है।

दूसरा अङ्ग सन्ध्योपासन है। इसमें ईश्वर की उपासना मुख्य है। मनु महाराज सन्ध्योपासन का समय बतलाते हुए कहते हैं —

पूर्वां सध्यांजपस्तिष्ठेत्सावित्रीमर्कदर्शनात् ।

पश्चिमा तु समासीन सम्यगृक्षविभावनात् ॥

मनु० अ० २

अर्थात् प्रातः काल में जब कुछ नक्षत्र शेष रह जायें, तब से लेकर सूर्यदर्शन होने तक गायत्री का जप करते हुए—अर्थात्—सहित उसका मनन करते हुए—अपना आसन जमाये रहे, और इसी प्रकार सायंकाल में सूर्यास्त के समय से लेकर जब तक नक्षत्र खूब अच्छी तरह न दिखाई देने लगें, तब तक बराबर सन्ध्योपासन में बैठा रहे। सन्ध्या एकान्त में, झुली हवा में,

किसी रमणीक जगह में जलमय के तीर करनी चाहिए। महर्षि मनु कहते हैं कि प्रातःसन्ध्यासे रात भर की, और सायं-सन्ध्या से दिन भर की पुवासनाओं का नष्ट होता है।

सन्ध्या में पहले भास्वत, भस्मस्पर्श और मार्जन की क्रिया के बाद प्राणायाम किया जाता है। प्राणायाम को सब से सख्त रीति यह है कि नाभि के नीचे से मूलेन्द्रिय का ऊपर की ओर स जोरन करते हुए भीतर की वायुको सम्पूर्णतः बाहर निकाल दे, और उसको बाहर ही यथालक्षि रोके रखे। इसके बाद फिर धीरे धीरे वायु को भीतर लेकर ऊपर की ओर ऊपर में उसको यथालक्षि रोके। बाहर और भीतर वायु को रोकने का क्रम से क्रम इसका अभ्यास करना चाहिए कि सन्ध्याका प्राणायाम-मन्त्र मन्त्र ही मन्त्र स्थिति के साथ तीन-तीन बार जपा जा सके। तब एक प्राणायाम होगा। इसी प्रकार के क्रम से क्रम तीन प्राणायाम तो सन्ध्या में अवश्य करने चाहिए। फिर जिसने ही अधिक कर सके, उतना ही भज्जा है।

मनु महापुरुष लिखते हैं कि जिस प्रकार धातुओं को तपाने से उनका मैल सब बाहर निकल जाता है, वही प्रकार प्राणायाम करने से मनुष्य की इन्द्रियाँ के सारे दोष दूर हो जाते हैं। आरोग्यता और आयु बढ़ती है।

प्राणायाम के बाद अथवा प के मंत्रों में परमात्मा की सृष्टि रचना का वर्णन है, और इस वृत्ति से पाप से निवृत्त होने का मार्ग दृष्टाया गया है। फिर मनसा परिक्रम और उपस्थान के मंत्रों में हम अपने को परमात्मा के निकट होने का अनुभव करते हैं। तत्पश्चात् वायवी मंत्र से परमात्मा के सर्व व्यापी, सर्वशक्तिमान् और तेजस्वी होने का अनुभव करके हम

अपनी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने की प्रार्थना करते हैं, और अन्त में उस सर्व-कल्याण-मूर्ति प्रभु को नमस्कार करके सन्ध्योपासन को समाप्त करते हैं।

यह सन्ध्या का सारांश लिखा गया है। सन्ध्योपासन-विधि की अनेक पुस्तकें छपी हैं। उनको देखकर और किसी आचार्य गुरु के द्वारा प्राणायाम इत्यादि सन्ध्योपासन की सम्पूर्ण विधि का यथोचित रीति से अभ्यास करना चाहिए।

चाहे हम रेल इत्यादि की यात्रा में हों, अथवा अन्य किसी स्थिति में हों; पर सन्ध्योपासन कर्म का त्याग न करना चाहिए। जल इत्यादि के उपकरण न होने पर भी परमात्मा की उपासना ठीक समय पर अवश्य कर लेनी चाहिए। उपकरणों के अभाव में कर्म का ही त्याग कर देना उचित नहीं।

२ देवयज्ञ

इसको अग्निहोत्र भी कहते हैं। यह भी साय-प्रात दोनो काल में वेद मन्त्रों के द्वारा किया जाता है। अग्निहोत्र से जल-त्रायु इत्यादि शुद्ध होता है। रोगों का नाश होता है।

३ भूतयज्ञ

इसको बलिवैश्वदेव भी कहते हैं। भोजन के पहले यह महायज्ञ किया जाता है। पहले मिष्टान्न इत्यादि की कुछ आहु-तिया अग्नि में छोड़ी जाती हैं। फिर कुत्ता, भगी, रोगी, कोढ़ी, पापी इत्यादि तथा अन्य पशु-पक्षी, कीट-पतंग इत्यादि को भोजन का भाग देकर उनको सतुष्ट किया जाता है।

४ नृत्यज्ञ

इसको अतिथियज्ञ भी कहते हैं। इसमें अतिथि-अभ्यागत,

साधु-महारमा, सखन इत्यादि को भोजन, वस्त्र, इक्षिया इत्यादि से समुत्पन्न करके उनके सत्संग से काम उठाते हैं। “व्यतिथि-संस्कार” नामक स्वतन्त्र प्रकरण इस पुस्तक में अन्वष्ट दिया है।

५ पितृयज्ञ

माता पिता, आचार्य इत्यादि तथा अन्य गुरुजनों की शिष्य सेवा-शुभ्रया करना उनकी आज्ञा का पालन करना उनके प्रिय काम करी आचरण करना पितृयज्ञ कहलाता है।

यही पाँच महायज्ञ हैं, जो गृहस्थ के शिष्य विधीय कर, और अन्य आत्ममन्त्रों के शिष्य भी साधारण तौर पर, कल्लाये गये हैं। “स्त्रिमहायज्ञविधि” की कई पोथियाँ छप गई हैं, जमें इसकी विधियाँ और मंत्र इत्यादि दिये हैं, सो देखकर अन्वष्ट कर लेना चाहिये।

सोलह संस्कार

किसी मामूली वस्तु पर कुछ क्रियार्थ का ऐसा प्रभाव डालना कि, जिससे वह वस्तु और भी उत्तम बने, इसी को संस्कार कहते हैं। मनुष्य-जीवन को सुन्दर और उज्ज्वल बनाने के शिष्य हमारे पूर्वज ऋषियों ने जो रीतियाँ कल्लाई हैं, इन्हीं को संस्कार कहते हैं। ये धार्मिक क्रियार्थ, मनुष्य के गर्भ में जाने से लेकर मृत्यु पर्यन्त कुछ सोलह हैं, और इन्हीं को हिन्दू धर्म में सोलह संस्कार कहते हैं। इन सोलह संस्कारों के करी से मनुष्य का शरीर, मन और आत्मा उज्ज्वल तथा पवित्र होता है। ये सोलह संस्कार इस प्रकार हैं—

१ गर्भाधान—इसी को मियेक और पुनेष्टि भी कहते हैं।

इसमें माता-पिता दोनों गर्भ धारण के पहले पूर्ण ब्रह्मचर्य का व्रत रखते हैं। ऋतु-दान के कुछ दिन पहले से ऐसी ऐसी औषधियां सेवन करते हैं कि जिनसे उनका रज वीर्य पुष्ट और पवित्र होता है। इसके बाद दोनों पवित्र और प्रसन्न भाव से गर्भाधान करते हैं।

२ पुंसवन—यह सस्कार गर्भ धारण के बाद तीसरे महीने में होता है। इसका तात्पर्य यह है कि, जिससे गर्भ की स्थिति ठीक ठीक रहे। इसी सस्कार के समय माता-पिता इस बात को भी दरसाते हैं कि, जब से गर्भ धारण हुआ है, तब से हम दोनों ब्रह्मचर्यव्रत से हैं, और जब तक फिर गर्भधारण की आवश्यकता न होगी, तब तक बराबर ब्रह्मचर्यव्रत से रहेंगे। इस सस्कारके समय भी स्त्रीको पुष्टिकारक और पवित्र औषधियां खिलाई जाती हैं।

३ सोमन्तोन्नयन—यह सस्कार गर्भ की वृद्धि के अर्थ छठे महीने में किया जाता है। इसमें ऐसे ऐसे उपाय किये जाते हैं कि, जिससे गर्भिणी का मन सुप्रसन्न रहे, उसके विचार उत्तम रहें, क्योंकि उन्हीं का असर बालक के मस्तिष्क और शरीर पर पड़ता है।

४ जातकर्म—यह सस्कार बालक के उत्पन्न होने पर, नाल-छेदन के पहले किया जाता है। इसमें होम-हवन, इत्यादि धर्मकार्य किये जाते हैं, और बालक की जिह्वा पर सोने की सलाई से 'वेद' लिखा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि, 'तु विद्वान् वन। तेरी बुद्धि बड़ी हो।

५ नामकरण—यह सस्कार बालक के उत्पन्न होने के ग्यारहवें दिन किया जाता है। इस संस्कार के अवसर पर

बाळक का नाम रखा जाता है। नाम रखनेमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि नाम सरल और सरस हो। ब्राह्मण के नाम में विद्या, सुश्रिय के नाम में वसु, वैश्य के नाम में धन और शूद्र के नाम में सेवामात्र का बोध होना चाहिए। लिंगों के नाम में भी मधुरता हो, दो-तीन मधुरसे अधिक न हों, सीता, सावित्री इत्यादि।

६ निष्काम्य—यह संस्कार बाळक के चौथे महीने में किया जाता है। इसमें बाळक को धर्मग्रन्थों के साथ घर से बाहर निकालना प्रारम्भ किया जाता है।

७ धनप्राप्ति—यह बाळक के छठे मास में किया जाता है। इस संस्कार के समय बाळक को मधु और क्षीर इत्यादि दिया जाता है। इसके बाद वह मूल-ग्रहण का अधिकारी होता है।

८—चूड़ाकरण—इसी को मुख्य संस्कार भी कहते हैं। यह प्रायः बाळक के तीसरे वर्ष में होता है। इसमें बाळक के गर्म कस्या के पास मूत्र दिये जाते हैं।

९ यज्ञोपवीत—इसी संस्कार का वसनयन या वस्त्रकरण भी कहते हैं। यह संस्कार प्रायः बाळक का आठवें में सुश्रिय का ग्याह्वर्षे वर्ष में और वैश्य का ग्याह्वर्षे वर्ष में होता है। इसी संस्कार के द्वारा बाळक ब्रह्मचर्य का व्रत धारण कर के वैदाम्यास का अधिकारी होता है।

१० वैशाख्य—वैश्व का वसनयन प्रारम्भ करके के पहले दो धार्मिक विधि की जाती है, उसको वैशाख्य संस्कार कहते हैं।

११ समावृत्त न—वसनयन समाप्त करने पर अब ब्रह्मचारी

को स्नातक पदवी दी जाती है, उस समय जो धार्मिक क्रिया होती है, उसी को समावर्त्तन कहते हैं।

१२ विवाह—सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य से जब मनुष्य अपने ही समान कुलशीलवती स्त्री का पाणिग्रहण करता है, उस समय की धार्मिक विधि को विवाह संस्कार कहते हैं।

१३ गार्हपत्य—जब मनुष्य गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके अपने घर में धर्मविधियों के साथ अग्नि की स्थापना करता है, उस समय यह संस्कार किया जाता है, और तभी से गृहस्थ-धर्म के पञ्चमहायज्ञ इत्यादि कर्म वह अपनी पत्नी के साथ करने लगता है।

१४ वानप्रस्थ—गृहस्थ का कर्तव्य पालन करके जब मनुष्य आयु के तीसरे भाग में धर्म और मोक्ष की साधनाके लिए वन-को जाता है, उस समय यह संस्कार किया जाता है।

१५ सन्यास—आयु के चौथे भाग में जब मनुष्य ईश्वर-चिन्तन करते हुए केवल मोक्ष की साधना में लगना चाहता है; और सब प्राणियों पर समदृष्टि रखकर जनहित को अपना एकमात्र उद्देश्य रखना चाहता है, तब जो विधि की जाती है, उसको सन्यास-संस्कार कहते हैं।

१६ अन्त्येष्टि—यह अन्तिम संस्कार मनुष्य के मर जाने पर किया जाता है। इसमें उसका शव एक कुण्ड में वैदिक विधि से हवन के साथ जलाया जाता है। यह अन्तिम यज्ञ है। इसी लिए इसका नाम अन्त्येष्टि है।

उपर्युक्त सोलह मुख्य-मुख्य संस्कारों के अतिरिक्त १-कर्ण-वेध (कनछेदन) और २-केशान्त अर्थात् युवावस्था के प्रारम्भ

में बाड़ीमूछ इत्यादि सब पाछा के मुहपान का भी एक संस्कार होता है। परन्तु इनकी गिनती साधारण संस्कारों में है।

प्रत्येक संस्कार के समय वैदिकविधि से हवन किया जाता है। गायन, वादन इत्यादि भीर विद्वानों का संस्कार किया जाता है।

ये संस्कार कन्या और पुत्र दोनों के लिए, अनिवार्य हैं। मनुष्यमात्र यदि इन संस्कारों को शास्त्र-विधि के अनुसार करने लगे तो उनका जीवन पवित्र और उच्च बन जाये। हिन्दूजाति में अब से इन संस्कारों का खोप हो गया है, सभी से जीवनकी पवित्रता भी नष्ट हो गई। संस्कारों का पुनरुद्धार प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है।

तीसरा खण्ड आचार-धर्म

“आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्त स्मार्त एव

—मनु०, अ० १—१०८

आचार

मनुष्य के जिस व्यवहार से स्वयं उसका हित तथा संसार का उपकार होता है, उसीको आचार और उसके विरुद्ध व्यवहार को अनाचार कहते हैं। आचार को सदाचार और अनाचार को दुराचार भी कहते हैं। वेद और स्मृतियों के अनुकूल जो धर्माचरण इत्यादि व्यवहार किया जाता है, वही आचार है; और आचार ही परम धर्म है। मनुष्य चाहे जितना विद्वान् हो, चारों वेदों का सागोपांग ज्ञाता हो, पर यदि वह आचार-भ्रष्ट है, तो उसका सब ज्ञान व्यर्थ है। यही बात मनु जी कहते हैं :—

आचारद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।

आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभागभवेत् ॥

एवमाचारतो हृद्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।

सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगद्गु परम् ॥

मनु०

आचारभ्रष्ट वेदज्ञाता वेद के फल को नहीं पाता। जो आचार से युक्त है, वही सम्पूर्ण फल पाता है। इसलिए मुनियों ने जब देखा कि आचार ही से धर्म की प्राप्ति है, तब उन्होंने धर्म के परम मूल आचार को ग्रहण किया। जो अपने चरित्र को सदैव धर्मानुकूल रखता है, वह सब प्रकार से सुखी होता है। इस विषय में भगवान् मनु कहते हैं—

आचारास्त्वमते ज्ञायुराचारादीप्सिताः प्रजा ।

आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥

मनु०

आचार से पूर्णायु मिलती है, आचार से ही मनोवाञ्छित सन्तान उत्पन्न होती है, आचार से ही धन सम्पत्ति मिलती

है, और भाषार से सब दुःख न दूर हो जाते हैं। इसके विरुद्ध, जो भाषार की रक्षा नहीं करते, उनकी क्या रक्षा होती है, सो भी मनु भगवान् के शब्दों में सुन लीजिए —

पुराणारो पि पुत्तो लोके भवति निमित्तः ।

दुर्लभी च कल्लं आबिणेअणानुरेव च ॥

अथ

पुराणारी पुत्र की संसार में निम्ना होती है, वह नावा प्रकार के दुःखों का मार्गी होता है। निम्नतर रोम से पीड़ित पक्षी, और बहुत अल्प मर जाता है। इस छिप भावों की संज्ञा को उचित है कि अपने भाषार की रक्षा करें। वास्तव में मार्ग शब्द का अर्थ ही यह है कि, जिसका भाषार भ्रष्ट हो और जो सर्वत्र भर्त्तव्य का त्याग और कर्त्तव्य का पावन करता हो —
कर्त्तव्याचरणाकर्त्तव्यमकर्त्तव्यमाचरेत् ।

जिम्हें प्रकृत्यार्थ का वा मार्ग इति स्मृतः ॥

जो कर्त्तव्य कार्य का आचरण करता हो और भर्त्तव्य का आचरण न करता हो तथा सर्वत्र अपने स्वभाविक आचार में स्थित रहता हो वही मार्ग है।

अब वास्तव में प्रश्न यह है कि कर्त्तव्य क्या है, और भर्त्तव्य क्या है, तथा भावों का—हिंस्रुओं का—प्रकृतिसिद्ध आचरण क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर महाराज ऐसे हैं —

केतोर्मन्त्रो धर्मयुक्तं स्पृक्षीकं च वदिरात् ।

आचारसर्वे साधूनामात्मकमुच्यते च ॥

अथ

भाव्यकर्मों के धर्म वा कर्त्तव्य का मूल सम्पूर्ण वैद है। इसके सिवाय, वेद के जाननेवाले अधि मुनि लोग जो स्मृति मानि स्मर्य किन्तु गये हैं, उनमें भी धर्म का वर्णन है और जोसा वे

आचरण कर गये हैं, वह भी हमको कर्तव्य सिखलाता है। फिर इसके सिवाय अन्य साधुपुरुषों का जो आचार हम देखते हैं, वह भी धर्ममूल है। इस सब के साथ ही कर्तव्याकर्तव्य की परीक्षा करनेके लिए मनुजी ने एक बहुत ही उत्तम कसौटी बतलाई है, और वह है—“आत्मनस्तुष्टि”। अर्थात् जिस कर्तव्य से हमारी आत्मा सन्तुष्ट हो, मन प्रसन्न हो, वही धर्म है। अर्थात् जिस कार्य के करने में हमारी आत्मा में भय, शंका, लज्जा, ग्लानि इत्यादि के भाव उत्पन्न न हों; उन्हीं कर्मों का सेवन करना उचित है। देखिये, जब कोई मनुष्य मिथ्या भाषण, चोरी, व्यभिचार, इत्यादि अकर्तव्य कार्यों की इच्छा करता है, तभी उसकी आत्मा में भय, शंका, लज्जा, ग्लानि इत्यादि के भाव उठते हैं, और मनुष्य की आत्मा स्वयं उसको ऐसे कर्मों के करनेसे रोकती है। इसलिए सज्जन पुरुषों को जब कभी कर्तव्य के विषय में सन्देह उत्पन्न होता है, तब वे अपनी आत्मा की प्रवृत्ति को देखते हैं। वे सोचते हैं कि, किस कार्य के करने से हमारी आत्मा को सन्तोष होगा, और ऐसा ही कार्य वे करते भी हैं। किसी कवि ने कहा है —

सता हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्त करणप्रवृत्तयः ।

अर्थात् सन्देह उपस्थित होने पर सत्पुरुष लोग अपने अन्तःकरण की प्रवृत्तियों को ही प्रमाण मानते हैं। अन्तःकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति सदाचार ही है, और सदाचारसे ही चित्त प्रसन्न होता है। भगवान् पतञ्जलि इसी चित्त प्रसन्नतारूप आचार का वर्णन इस प्रकार करते हैं —

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावना तद्विचित्रप्रसादनम् ॥

—योगदर्शन

अर्थात् सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और दुष्टात्मा इन चार प्रकार के

पुरुषों में अमर्यः मीची कदवा, गुहिला और उपेक्षा की भावना से बिच प्रसन्न होता है। संसार में बार ही प्रकारके प्राणो हैं। कोई सुखी है, कोई दुखी है, कोई बर्मात्मा है, कोई नबर्मी है। इन बारों प्रकार के लोगों से यथायोग्य व्यवहार करनेसे ही बिच प्रसन्न होता है—मन को शान्ति मिलती है। जो लोग सुखी हैं, उनसे प्रेम या मीची का कर्त्तव्य करना चाहिए, जो लोग ईर्ष्या-हीन पुरुषों, पीड़ित हैं, इन पर दया करनी चाहिए। जो पुण्यात्मा पवित्र भावराज्यवाले हैं, उनको देखकर हर्षित होना चाहिए। और जो दुष्ट दुराचारी हैं, उनसे दूरासीन रहना चाहिए—अर्थात् उनसे न प्रीति करे और न वैर।

इस प्रकार का व्यवहार करने से हम अपने आपको उत्कृष्ट कर सकते हैं अनुमात्मानों की आशुति और असुमावनाओं का त्याग करने के लिए यही सदाचार का मार्ग है। जिन सज्जनों ने ऐसा आचार धारण किया है, उनकी को कल्प करके राजर्षि भर्तृहरि जी कहते हैं :—

बोद्धव्यं कर्मफलं यत्तुने प्रीतिरु रौ वत्सा
विवादां ० कर्म ० कर्मोपि विरक्तिर्नोपपन्नमम् ।
अथि शक्तिनि कथितत्तुने प्रीतिरु सुखि कले-
प्यत वत् कल्पित विरक्तिरुपपन्नमो वरिणो वत्सा ॥

सज्जनों के सत्संग की इच्छा दूसरे के अनुगुणों में प्रीति, दुष्ट-जनों के प्रति नफरत, विवादा में अमिदधि, अस्वी ही की में एति लोकनिम्न से भय, ईश्वर में भक्ति, आत्मदमन में शक्ति, दुष्टों के संसर्ग से मुक्ति अर्थात् पुरी संसृति से बचना—ये विमर्श गुण जिसके मन में रहते हैं, उसको हमारा नमस्कार है। वही सदाचारी पुरुष है।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्म का अर्थ है—ईश्वर, अथवा विद्या। सो ईश्वर अथवा विद्या के लिए जो आचरण किया जाय, उसका नाम है ब्रह्मचर्य। परन्तु ब्रह्मचर्य का साधारण अर्थ आजकल वीर्यरक्षा से लिया जाता है। इसलिए यहाँ पर हम वीर्यरक्षा का ही विचार करेंगे। विद्यार्थियों से सम्बन्ध रखनेवाले विशिष्ट ब्रह्मचर्य पर हम आश्रमधर्म में लिख चुके हैं।

वीर्यरक्षा मनुष्य का प्रधान धर्म है। मनुष्य जो कुछ भोजन करता है, उसके कई प्रकार के रस तैयार होने के बाद मुख्य धातु या वीर्य तैयार होता है। यह वीर्य शरीर का राजा है। इसी से मनुष्य की शक्ति और ओज कायम रहता है। मनुष्य के शरीर से जब ओज नष्ट हो जाता है, तब वह जीवित नहीं रहता। आयुर्वेद में इसका इस प्रकार वर्णन किया गया है —

ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्ताना परं स्यूतम्।

हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम् ॥

अर्थात् शुक्र आदि शरीर के अन्दर जितनी धातुएँ हैं, उन सब से एक अपूर्व तेज प्रकट होता है, और उसी को ओज कहते हैं। यह यद्यपि विशेषकर हृदय में ही स्थिर रहता है; परन्तु उसका प्रभाव सारे शरीर में व्याप्त रहता है, और यही शरीर की स्थिति कायम रखता है। अर्थात् इसका जब नाश हो जाता है, तब शरीर नष्ट हो जाता है।

इससे पाठकों को मालूम हो जायगा कि, मनुष्य के लिए वीर्यरक्षा की कितनी आवश्यकता है। मनुष्य यदि अपने वीर्य

को अपने शरीर के भक्ष्य धारण किये जाता है, ता उसकी शारीरिक उन्नति और मानसिक उन्नति परापर होती जाती है। शरीर और मन में नवीन सृष्टि सदैव यही होती है। वीर्य रक्षा करनेवाले मनुष्य का कोई विचार निष्फल नहीं जाता। वह जो कुछ सोचता है, करके ही छोड़ता है। मात्र एक जितने महापुरुष संसार में हो गये हैं, वे सब प्रख्याती थे। प्रत्यक्ष के कल पर ही उन्होंने कठोर से भी कठोर कार्य सिद्ध किये थे। यहाँ तक कि वे में कहा है कि—

अर्थात् प्रत्यक्ष के कल पर ही देवता कोम मृत्यु को जीत लेते हैं। मीमा पितामह की कथा सबको मालूम है। प्रत्यक्ष के कल पर ही उनका इच्छामरण की शक्ति प्राप्त थी, उन्होंने मृत्यु को जीत लिया था। बापों से विद्व होने पर भी, अपनी इच्छा से बहुत दिनों तक जीवित रहे। उसी क्षण में सब का धर्मोपदेश दिया, और जब उन्होंने इस संसार में अपना भाव व्यक्त न समझा, तब स्वेच्छा से शरीर का त्याग किया। पण्डित रामजी हनुमानजी इत्यादि अनेक बाह्यप्रचारों मारुतवर्ष में हो गये हैं, जो हमारे लिए प्रत्यक्ष के मार्ग हैं। वर्तमान समय में भी स्वामी बालामह जी मार्ग बाह्यप्रचारों हो गये हैं, जिन्होंने मारुतवर्ष को घोर निद्रा से जगत्या, और उनका कोई भी उपदेश भयाना कार्य निष्फल नहीं गया। मारुतबाह्यो घीरे घीरे उन्हीं के उपदेश पर मा रहे हैं।

मात्रक प्रत्यक्ष देखा जाता है कि हमारे स्फुट और काष्ठ के विचारों वीर्यरक्षा पर किछकुछ ध्यान नहीं देते। 'वर्ष' प्रकार से—मुष्मिपुन इत्यादि की कुत्रे से—अपने वीर्य को नाश

किया करते हैं। हाय ! उनको नहीं मालूम कि, हम अपने हाथ से अपने जीवन पर कुठाराघात कर रहे हैं। वीर्य का एक एक वूँद मनुष्य का जीवन है। कहा है कि—

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ।

अर्थात् वीर्य का एक वूँद भी शरीर से गिरा देना मरण है, और एक वूँद की भी अपने अन्दर रक्षा कर लेना जीवन है। स्वामी रामतीर्थ जीने लिखा है कि, मनुष्य के शरीर के अन्दर दो रक्त होते हैं। एक लाल रक्त, जो मामूली रक्त है, और एक सफेद रक्त जो वीर्य है। जब एक वूँद भी रक्त मनुष्य के शरीर से किसी कारण निकल जाता है, तब तो उसको बड़ा पश्चात्ताप होता है कि, हाय ! इतना रक्त मेरा निकल गया। पर सफेद रक्त (वीर्य), जो शरीर का राजा है, उसको व्यर्थ ही हम जानबूझ कर, क्षणिक सुख के लिए, शरीर से निकाल दिया करते हैं। यह कितने दुःख की बात है।

आह ! वीर्यक्षय से आज न जाने कितने होनहार नवयुवक अकाल ही काल के गाल में चले जा रहे हैं। आयुर्वेद में स्पष्ट लिखा हुआ है —

आहारस्य परधाम शुक्र तद्ब्रव्यमात्मनः ।

क्षये यस्य बहून् रोगान् मरणं वा नियच्छति ॥

अर्थात् मनुष्य जो प्रति दिन नियमित आहार करता है, एक मास के बाद उसका अन्तिम रस, अर्थात् वीर्य तैयार होता है— उसकी पूर्ण यत्न से रक्षा करना चाहिए, क्योंकि उसके क्षय होने पर अनेक रोग आ घेरते हैं। यही नहीं, बल्कि मनुष्य की जीवनलीला की अन्तिम यन्त्रिका भी पतन हो जाती है। इस

किए मनुष्य को ब्रह्मचर्य की रक्षा प्रत्येक क्षणमें करनी चाहिए।
पतञ्जलि द्विपि ने अपने योगसूत्रों में लिखा है —

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां योगदानम् ।

योगः

ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से ही ब्रह्म-वीर्य की प्राप्ति होती है। वीर्य का नाम कर्मेवाहै मातृ प्रकार के विपुल विद्वानों ने कहा है —

कर्तुं कर्तव्यं कर्म मेधनं पुण्यभाषणम् ।

हंकारोऽन्धकारश्च विद्यानिप्यक्षितश्च ॥

पुण्यमेधनभाषणं प्रवर्णितं मनीषिणाः ।

विरतेत ब्रह्मचर्यं ब्रह्मचर्यं ब्रह्मचर्यम् ॥

अर्थात् कर्म, स्वर्ग, केवल, मेधकारण, एकाग्र में भाषण, संकल्प, प्रयत्न, कार्यनिप्यक्षित से मातृ प्रकार के विपुल (ब्रह्मचर्य) विद्वानों ने कहा है। इनसे ब्रह्मचर्य ही ब्रह्मचर्य है, जिसको कभी छोड़ना न चाहिए। ब्रह्मचर्य छोड़ने से वीर क्या क्या हानि होती है, इस विषय में गीतम द्विपि का ब्रह्मचर्य कीविय —

आकुलेना कलं वीर्यं प्रजा भीत्य मरुतः ।

पुनश्च व क्षीयत्यर्थं च हन्तेऽन्धकार्यम् ॥

अर्थात् ब्रह्मचर्य न पालन करने से आत्म, ब्रह्म, वीर्य बुद्धि, अस्मी वीर सिद्ध, महायश, पुण्य, मेध, इत्यादि सब अच्छे अच्छे गुणों का नाश हो जाता है।

यह नहीं कि विवाह करने के पहिले ही मनुष्य ब्रह्मचारी हो, बल्कि विवाह कर देने के बाद, अपने ही के साथ भी, ब्रह्मचारी रहना चाहिए। हम यह नहीं कहते कि, वह भी का

सर्वथा त्याग कर दे, किन्तु हमारा तात्पर्य इतना ही है कि, स्त्री के रहते हुए भी उसको वीर्यरक्षा का ध्यान रखना चाहिए। स्त्रीसंग सिर्फ सन्तान-उत्पत्ति के लिए है। इन्द्रिय-सुख के लिए वीर्य का नाश न करना चाहिए।

रामायण के पढ़नेवालों को मालूम है कि, महाबली मेघनाद को मारने की किसी में शक्ति न थी। उस समय भगवान् राम-चन्द्रजी ने कहा कि, इस महाबली राक्षस को वही मार सकेगा, जिसने बारह वर्ष ब्रह्मचर्य का साधन किया हो। लक्ष्मणजी श्रीरामचन्द्रजी के साथ वन में बारह वर्ष से पूर्ण ब्रह्मचारी थे। इन के मन में कभी कोई अपवित्र भाव नहीं उठा था। इस लिए लक्ष्मणजी ने ब्रह्मचर्य के सहारे ही मेघनाद पर विजय प्राप्त की। इसी प्रकार महाभारत में चित्ररथ गन्धर्व के अर्जुन-द्वारा जीते जाने की कथा है। उसमें लिखा है कि, महावीर अर्जुन ने जब चित्ररथ को जीत लिया, तब चित्ररथ ने कहा —

ब्रह्मचर्यं परोधर्मं स चापि नियतस्त्वयि ।

यस्मात्तस्मादहं पार्थ रणेऽस्मिन् विजितस्त्वया ॥

अर्थात् हे पार्थ, ब्रह्मचर्य ही परम धर्म है। इसका तुमने साधन किया है, और इसी कारण तुम मुझ को युद्ध में पराजित कर सके हो।

कहा तक कहें, ब्रह्मचर्य की जितनी महिमा कही जाय, थोड़ी है। इस लिए ब्रह्मचर्य अर्थात् वीर्य की रक्षा करके मनुष्य को अपना जीवन सफल करना चाहिए।

यज्ञ

संसार के द्वि के द्वि ओ मात्मत्याग किया जाता है।
 वही को यह कहते हैं। हिन्दूजाति का जीवन यज्ञमय है। यह
 से ही इसकी उत्पत्ति होती है, और यह ही में इसकी अन्त्येष्टि
 होती है। यह का अर्थ जिसकी पूर्णता के साथ कार्य या हिन्दू
 जाति ने जाना है, उसका अर्थ किसी जाति में नहीं। हिन्दू-धर्म
 के सभी ग्रन्थों में यह का विस्तृत वर्णन है। भादि-धर्म-ग्रन्थ
 के तो विस्तृत यज्ञमय हैं। एक हिन्दू को कुछ कर्म जीवन
 भर करना है सब यह के द्वि। श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे
 और चौथे अध्याय में भगवान् धीमन्मन्त्रजी ने यह का
 अर्थ अत्यन्त सुन्दरता के साथ बताया है। आप कहते हैं—

यज्ञार्थाय कर्मसु कौशलम् ॥

यज्ञं कर्म कौन्तेय श्रुत्वात्मन उवाच ॥

गीता

अर्थात् यदि 'यज्ञ' के द्वि कर्म नहीं किया जाता, केवल
 स्वार्थ के द्वि किया जायगा तो वही कर्म कर्मनकारक होगा।
 इस द्वि है भर्तृन्, तुम जो कुछ कर्म करो, सब यह के द्वि—
 अर्थात् संसार के द्वि के द्वि—करो, और संसार से भागदिक
 छोड़कर आत्मपूर्णक भावण करो। यह की उत्पत्ति कहते
 हुए भगवान् कहते हैं :—

यज्ञस्याः प्रजाः सृष्ट्वा पुनश्चापि प्रजापतिः ॥

अनेन प्रसविष्यन्मयोक्तोऽस्ति यज्ञोऽयम् ॥

गीता

अर्थात् प्रजापति परमात्मा ने जब आदिकाल में यज्ञ के साथ ही साथ अपनी इस प्रजा को उत्पन्न किया, तब वेद-द्वारा यह कहा कि, देखो, इस 'यज्ञ' से तुम चाहे जो उत्पन्न कर लो। यह तुम्हारी कामधेनु है। यज्ञ तुम्हारी सब मनोकामनाओं को पूर्ण करेगा। क्योंकि—

देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु व० ।

परस्परं भावयन्तः श्रेय परमवाप्स्यथ ॥

गीता

इस यज्ञ ही से तुम देवताओं—सृष्टि की सम्पूर्ण कल्याणकारी शक्तियों—को प्रसन्न करो। तब वे देवता स्वभाविक ही तुम को भी प्रसन्न करेंगे। इस प्रकार परस्पर को प्रसन्न करने से तुम सबका परम कल्याण होगा। क्योंकि—

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविता ।

तैर्दत्तानऽप्रदायैभ्यो यो भुवते स्तेन एव स ॥

गीता

वे यज्ञ से प्रसन्न किये हुए देवता लोग तुमको सब प्रकार के सुख देंगे। परन्तु उनके दिये हुए उन सुखों को यदि तुम फिर उनको अर्पित किये बिना भोगोगे, तो चोर बनोगे। क्योंकि यज्ञ के द्वारा देवता लोग तुमको जो सुखद पदार्थ देंगे, उनको फिर यज्ञ के द्वारा उनका अर्पित करके तब तुम सुख भोग करो। इस प्रकार सिलसिला सुखभोग का लगा रहेगा। यज्ञ करके जो सुख भोग किया जाता है, वही कल्याणकारी है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।

नृजते ते त्वय पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

गीता

अर्थात् यह करने के बाद जो शेष रह जाता है, उसी का मोच करने से सारे पाप दूर होते हैं, किन्तु जो पापी यह का ध्यान न रखकर, केवल अपने ही सिद्धि पाकसिद्धि करते हैं, वे पाप खाते हैं। किन्ता यह किये मोक्षन करना मानो पाप ही का मोक्षन है।

जो मन्त्र हम खाते हैं, वह किस प्रकार उत्पन्न होता है, इस विषय में महाबान् कृष्ण कहते हैं —

अन्वाहुमन्ति भूतानि पर्जन्यादन्वसमन्वा ।
 पञ्चाहुमन्ति पर्जन्यो यथा कर्मजमुद्भवा ॥
 कर्म ज्योतुमर्षं विद्मि ऋषाह्वयमुद्भवम् ।
 तस्मात् पर्जन्यं ऋषिर्वाचं प्रतिष्ठाम् ॥

गीता

अर्थात् मन्त्र से जो सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, मन्त्र वृद्धि से उत्पन्न होता है, भीर वृद्धि यह से होती है। यह कर्म से उत्पन्न होता है। कर्म के से उत्पन्न हुआ जन्मो और के ईश्वर से उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार सबव्यापी ईश्वर सर्वत्र यह में स्थित है। इस सिद्धि—

यत्प्रवर्तितं क्व वायुचर्येन्द्रीह क ।
 अवापुरिम्निवाप्तमो मोर्षं पार्श्वं च जीवति ॥

गीता

हे भर्तुन पञ्चात्मा के जारी किये हुए वयर्पुष्क सिद्धिस्थिति के अनुसार जो मनुष्य भाषण नहीं करता—अर्थात् यह के महत्त्व को समझकर जो नहीं कहता—यह पापजीवन अपनी इन्द्रियों के सुख में भूखा हुआ इस संसार में व्यर्थ ही जीता है।

इससे अधिक जोखार शब्दों में यह का महत्त्व और क्या कहाया जा सकता है। परन्तु अत्यन्त दुःख की बात है कि,

हम लोगों ने यज्ञ करना छोड़ दिया है। यही नहीं, बल्कि हम में से अनेक सुशिक्षित कहलानेवाले लोग तो यज्ञ की हँसी उड़ाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की यह बात कि, यज्ञ से वृष्टि होती है, उनकी समझ में नहीं आती। वे लोग कहते हैं कि सूर्य की गर्मी से जो भाप समुद्रादि जलाशयों से उठती है, उसी से बादल बनकर वृष्टि होती है। यह तो ठीक है, परन्तु फिर क्या कारण है कि, किसी साल बहुत अधिक वृष्टि होती है, और किसी साल बिल्कुल नहीं होती। आप कहेंगे कि, भाप तो बराबर उठती है, परन्तु हवा बादल को कहीं का कहीं उड़ा ले जाती है, और इसी कारण कहीं वृष्टि अधिक हो जाती है, और कहीं बिल्कुल नहीं होती। ठीक। परन्तु हवा ऐसा क्यों करती है? इसका कोई बुद्धियुक्त उत्तर नहीं दिया जा सकता। यही तो भेद है। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इस भेद का खुलासा किया है। उनका कथन है कि, यथाविधि यज्ञ-हवन करने से मुख्य तो वायु की ही शुद्धि होती है, फिर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, इत्यादि सभी भूतों पर यज्ञ का असर पड़ता है। अग्नि में घृत, इत्यादि जो सुगन्धित और पुष्ट पदार्थ डाले जाते हैं, वे वायु में मिलकर सूर्य तक पहुँचते हैं, और बादलों में मिलकर जल की भी शुद्धि करते हैं। महर्षि मनु ने कहा है.—

अग्नौ प्रास्ताहुति सभ्यगादित्यमुपतिष्ठते ।

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं तव प्रजा ॥

मनु०

अर्थात् अग्नि में जो आहुति डाली जाती है, वह सूर्य तक

पहुँचती है, सूर्य से कृषि होती है, कृषि से भजन होता है, और भजन से प्रजा ।

इसके सिवाय वायु की शुद्धि से रोम भी नहीं होते । अब से हमारे देश में एक एक होगये, और इधर पश्चिमी एक-कारखानों और रेल के कारण वायु और भी अधिक दूषित होगई, सभी से इस देश में नागाप्रकार के रोग फैल गये । रोम निवृत्ति के धर्म तो अब भी प्रामीण लोग हवन इत्यादि किया करते हैं, और प्रायः उससे काम ही हुमा करता है । इससे अनुमान कर लेना चाहिये कि, जिस समय इस देश में बड़े बड़े एक होते थे, उस समय इस देश में आरोग्यता और सुख-समृद्धि किसनी होगी । अविष्य पुराण में लिखा है —

धामे धामे किमो देशे देशे इमे स्थितो मया ।

ये ये स्थितं ब्रह्मन् धर्मदेव जने जने ॥

अविष्यपुराण

अर्थात् यौव यौव में देवता स्थित हैं, देश देश में, मातृ के प्रत्येक प्रान्त में एक होते पड़ते हैं, घर घर में ब्रह्म मौजूद है । अर्थात् कोई बरिधी नहीं है, और प्रत्येक मनुष्य में धर्म मौजूद है ।

कुछ मूर्ख लोग कहा करते हैं कि, देश की इस दुरिदावस्था में हठ, मेघ, औषधि तथा सुन्दर सुन्दर भवन बार, इत्यादि भाग में पूँक देना मूर्खता है । इन पदार्थों को स्वर्ग यदि कार्य, तो मोटे-ठाढ़ों और पुष्ट होगी । इसी स्वार्थभाव ने इस देश का उत्थानाश किया है । ये मूर्ख नहीं जानते कि एक जनता के हित के लिए, स्वार्थत्याग करने के हेतु से ही, होता है । ब्राह्मणग्रन्थों में लिखा है —

यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते ।

—ऐतरेय ब्राह्मण ।

अर्थात् यज्ञकार्य परोपकार और जनता के हित के लिए ही होता है । हमारा निज का हित भी उससे अलग नहीं है । यही बात कृष्ण भगवान् ने भी कही है । फिर जो पदार्थ हम हवन करते हैं, वे कहीं नष्ट होकर लोप नहीं हो जाते हैं । जल, वायु और अन्न के द्वारा हमारे ही उपयोग में आते हैं । मूर्ख लोग समझते हैं कि, इनका नाश हो जाता है, पर वास्तव में जो पदार्थ है, उसका नाश तो हो ही नहीं सकता है, और जो नहीं है, वह हो नहीं सकता । गोता में ही कहा है —

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत ।

उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

भगवद्गीता

अर्थात् जो चीज़ है ही नहीं उसका भाव कहाँ से हो सकता है, जो है, उसका अभाव नहीं हो सकता । दोनों का भेद तत्त्वदर्शी लोग जानते हैं । मूर्ख क्या जानें ! अस्तु ।

यज्ञ दो प्रकार के होते हैं । एक तो नैमित्तिक यज्ञ, जो किसी निमित्त से किए जाते हैं, जैसे वाजपेय, अश्वमेध, राजसूय, इत्यादि, और दूसरे नित्य के यज्ञ, जो प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिए, और जिनको पंचमहायज्ञ कहते हैं । इनका वर्णन इस पुस्तक में अन्यत्र दिया हुआ है ।

पंचमहायज्ञ के अतिरिक्त पक्षयज्ञ प्रत्येक पौर्णमासी और अमावस्या को किया जाता है । नवशस्येष्टि नवीन अन्नों के आने पर और सवत्सरेष्टि नवीन संवत् के प्रारम्भ में किया जाता है ।

इसी प्रकार यह भी प्रथा यदि फिर हमारे देश में बरक आयेगी, तो अस्तिवृष्टि, अनावृष्टि और बहुत से रोग-दोष दूर हो आयेगी, परन्तु साथ ही, अमेरिजी राज्य में वायु को दूषित करनेवाले जो कारण यहाँ पर उपस्थित हो गए हैं उनका भी दूर होना आवश्यक है।

दान

हिन्दू धर्म में दान का बड़ा भारी महत्त्व प्राचीन काल से ही कहा जाता है। यहाँ पर हरिश्चन्द्र, बलि और कर्ण के समाप्त हस्ती हो गए हैं, जिन्होंने अपना सर्वस्व दान करके ऐसे ऐसे कष्ट मोचे जिनका ठिकाना नहीं। हमारे धर्मग्रन्थों में दान का माहात्म्य अथवा अगह वर्णन किया गया है, और यह भी बत साया गया है कि, दानधर्म करने की सच्ची प्रणाली कौन सी है। उपनिषदों में कहा है —

अन्नं देवम् । अन्नं देवम् । अन्नं देवम् । अन्नं देवम् । अन्नं देवम् । अन्नं देवम् ।

तैत्तिरीय उपनिषद्
अर्थात् अन्न से हो । अन्न से हो । सम्पन्न होकर भी हो ।
छोकर अन्न दे । मय से हो । प्रतिज्ञाश्च हो । मन्त्रमय यह
कि, किसी प्रकार हो दान अन्नस्थ हो । जो हमेशा लोगों को
दान दिया करता है, वह सर्वप्रिय हो जाता है । उसके शत्रु
भी मित्र बन जाते हैं । कहा है —

दानेन भूयानि पत्नीकान्ति,
दानेन वैराग्यानि वान्ति वाङ्मम् ।
श्रोत्रेण कण्ठस्यैवैति दाने-
दानं हि सर्वव्यापयानि इति ।

अर्थात् दान से सब प्राणिमात्र वशमें हो जाते हैं—यहाँ तक कि वैरी लोग वैर छोड़कर मित्र बन जाते हैं। दान से पराये लोग भी अपने भाई बन जाते हैं। दान एक ऐसा उत्तम कर्म है कि, यह सब बुराइयों को दूर कर देता है। सत्य ही है, जिसको दान देने की आदत पड़ जाती है, उसको फिर अन्य कोई व्यसन सूझ ही कैसे सकता है। उसका धन तो परोपकार में ही लगता है। धन दान-धर्म में लग गया, तब तो ठीक ही है। अन्यथा उसकी गति अच्छी नहीं होती। दान में न लगेगा, तो दुर्व्यसनों में जायगा, अथवा नष्ट हो जायगा। क्योंकि कहा है,—

दानं भोगो नाशस्तिष्ठो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।

यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥

अर्थात्—

धन की गति तो तीन है, दान भोग और नाश ।

दान भोग जो ना करे, निश्चय होय विनाश ॥

परन्तु इन तीनों गतियोंमें दान की ही गति उत्तम है। और यदि दान श्रद्धा के साथ, प्रिय वचनों के साथ, दिया जावे, तो फिर क्या कहना है। नीति में कहा है —

दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमाऽन्वितं शौर्यम् ।

वित्तं त्यागनियुक्तं दुर्लभमेतच्चतुष्टयं लोके ॥

अर्थात् प्रिय वचनों के साथ दान, नम्रता और निरभिमानता के साथ ज्ञान, क्षमा के साथ शूरता, और त्याग के साथ धन, ये चार कल्याणकारी बातें मनुष्य में दुर्लभ हैं। क्योंकि बहुत से लोग देते हैं, तो दो-चार बातें सुना देते हैं। ऐसे देने से कोई लाभ नहीं। सद्भाव जब पहले ही नष्ट हो गया, तब उस

ज्ञान से क्या फल ? इसलिये ज्ञान में जो प्रिय बनना चाहिये । जो प्रिय बनता है उसको प्रिय मित्रता भी है । प्रेम का दान बहुत ही श्रेष्ठ है । अपिषों में कहा है —

प्रियानि कम्भं निर्धनं प्रियं प्रियद्वयम् ।

प्रिया भवति भूतानामिह नव नवम् ॥

भर्षात् जो प्रति दिन सब को प्यार होता है, और प्यार के कार्य करता है, उसको स्वयं प्यार मिलता है । और, वह इस छोटे तपा परछोके, दोनों अर्थात्, सब प्राणियों का प्रिय होता है । इसलिये प्यार का दान सब से श्रेष्ठ है । मध्यम, मन्त्र देखना चाहिये कि, दान किस प्रकार का किया जाय । श्रीकृष्ण भगवान् न गीता में दान भी तीन प्रकार का बतलाया है—सात्त्विक, राजस, तामस ।

सात्त्विक दान

दानमिति नान्यं दीप्तेस्तुभ्यजिणे ।

इमे काले न दाने न तद्वत् सात्त्विकं कृतम् ॥

भर्षात् “दान देना हमारा कर्तव्य है”—कह, सिर्फ इस एक भावना से जो दान दिया जाता है, जिसमें ऐसा कोई भाव नहीं रहता कि, आज हम इसको देते हैं, कल हमारा भी इससे कोई उपकार हो जायगा, और जो दैरा, काय, तथा पात्र का विचार करके दान किया जाता है, वह सात्त्विक दान है ।

आज-कल हमारे देश में दान देने की प्रथा बहुत सिद्ध रही है । ऐसा नहीं कि दान न दिया जाता हो दान तो करोड़ों रुपयों का मन्त्र भी होता है, परन्तु कसमें दैरा, काय और पात्र का ध्यान नहीं रखा जाता । इससे वह दान काम की अर्थात् पर

हानि करता है। जिनको दान दिया जाता है, वे भी खराब होते हैं, और देश की दशा के विगाड़ में ही वे उस दान को खर्च करते हैं। इस लिए दानदाताको कोई अच्छा फल नहीं होता। महाभारत में कहा है—

अपात्रेभ्यस्तु दत्तानि दानानि स्रग्धून्यपि ।

वृथा भवन्ति राजेन्द्र भस्मन्याज्याहुतिर्यथा ॥

महाभारत

अर्थात् अपात्र को चाहे बहुत ज्यादा दान दिया जाय, पर उसका कोई फल नहीं होता—वह इस प्रकार व्यर्थ जाता है कि जैसे राख में कोई धी की आहुतिया डाले। इसलिये पात्रापात्र का विचार अवश्य करना चाहिये —

पात्रापात्रविवेकोऽस्ति धेनुपन्नगयोर्मथा ।

नृणात्संजायते क्षीरं क्षीरात्संजायते विषम् ॥

पात्रापात्र का विवेक ऐसा है, जैसे गौ और सर्प का। गौ को आप घास खिलाएंगे, तो उससे दूध पैदा होगा, और साप को आप दूध पिलायेंगे, तो उससे विष पैदा होगा। इसी प्रकार से सुपात्र को यदि आप थोड़ा सा भी दान देंगे, तो वह आपको अच्छा फल देगा—वह अच्छे कर्मों में खर्च करेगा, इससे देश का हित होगा, और यदि आप कुपात्र को देंगे, तो वह भोग-विलास, दुराचार में खर्च कर देगा, जिससे सब को हानि पहुँचेगी। अब देखना चाहिये, सुपात्र का क्या लक्षण है। कैसे मालूम हो कि यह सुपात्र है। व्यासजी कहते हैं —

न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता ।

यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम् ॥

अर्थात् न केवल विद्या अथवा न केवल तप से ही पात्रता की परीक्षा हो सकती है, बल्कि जहाँ पर विद्या और तप दोनों

मौजूद हाँ यही सुपात्र है। क्योंकि केवल बिद्या ज्ञान से भा मनुष्य दुराचारी हो सकता है, और केवल तप होने से भी मनुष्य पाखण्डी हो सकता है। इस लिए जिस व्यक्ति में बिद्या भी है, और तप भी है—मर्यादाओं विद्या और तपस्वी, सदाचारी परोपकारी है, यही ज्ञान का पात्र है। इसके विरुद्ध मूर्ख दुराचारा का ज्ञान देने से पाप लगता है।

अच्छा अब देखना चाहिए कि, सांख्यिक दानों में भेष्य ज्ञान कीन कीन से है, इस विषय में भिन्न भिन्न श्रुतियों के लक्षण देखिए :—

गोदुग्धं वाटिक्यपुष्पं विद्याद्वारादकं भवम् ।

वातादिपचते विभ्रममावाच्य विचल्यति ॥

मर्यादा गौ-जैस का दुग्ध, वाटिका के फूल-पुष्प, विद्या कुर्य का अन्न, भन इत्यादि चीजें मिल्य दान देने से पकती हैं; और न देने से नाश हो जाती है। फिर कहते हैं :—

अन्नमवाच्यं वृक्षाद्य विभ्रमपूजनमपि ।

लेतुः प्रविष्टो भव तेन सर्वं बलीकृतम् ॥

जो मनुष्य कुम्ह, ताछाह, बावड़ी, इत्यादि अन्नमवाच्य, फल-फूल, छाया देनेवाले वृक्ष औपचाक्य, धर्मशास्त्रा इत्यादि विभ्रमपूज्य श्रुतियों इत्यादि में कुछ लपकाते हैं, वे मानों सारे संसार पर अपना प्रभाव स्थापित करके सब को पश में करते हैं। जिस प्राणी को जिस बीज का दान कर के समुत्पन्न करना चाहिए, इस विषय में देखिए —

देवं नेत्रमात्रेण परिब्रजन्तं वायव्यम् ।

पृथिव्यं च वापीर्षं शुक्लं च भोज्यम् ॥

रोम्भियों की औपधि-ज्ञान द्वारा सेवा करनी चाहिए। हरे पक्षों को स्थान, भोजन इत्यादि देकर समुत्पन्न करना चाहिए।

प्यासे को पानी और भूखे को अन्न देना चाहिए। सब दानों में अन्नदान श्रेष्ठ है :—

यस्मादन्नात्प्रजाः सर्वा कल्पे कल्पेऽसृजत्प्रभु ।

तस्मादन्नात्परं दानं न भूतं न भविष्यति ॥

परमात्मा कल्प कल्प में अन्न से ही सब प्राणियों की उत्पत्ति, पालन और रक्षण करता है, इसलिए अन्नदान से श्रेष्ठ और कोई दान न हुआ है, और न होगा। परन्तु अन्नदान से भी एक श्रेष्ठ दान है। ऋषि कहते हैं —

अन्नदानं परं दानं विद्यादानमतः परम् ।

अन्नेन क्षणिका तृप्तिर्वाञ्जीवन्तु विद्यया ॥

अन्नदान निस्सन्देह श्रेष्ठ दान है, परन्तु विद्यादान उससे भी श्रेष्ठ है, क्योंकि अन्नदान से तो क्षण मर के लिए ही तृप्ति होगी— फिर भूख तैयार है—परन्तु विद्यादान से जीवन मर के लिए सन्तोष हो जायगा। इसी लिए महर्षि मनु कहते हैं —

सर्वेषामेष दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।

वार्यन्नगोमहीवासस्त्रिलोकाचनसर्पिषाम् ॥

मनु०

अर्थात् ससार में जितने दान हैं—जल, अन्न, गौ, पृथ्वी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृत आदि—सब में विद्यादान श्रेष्ठ है। इस लिए तन, मन, धन, सब लगा कर देश में विद्या की वृद्धि करनी चाहिए। एक दान और भी श्रेष्ठ है, और वह है अभयदान। ससार में अत्याचारी लोग निर्वल और गरीब लोगों पर रात-दिन जुलम करते रहते हैं। उनपर दया करके, अत्याचारियों के चंगुल से छुड़ाकर, उनको अभयदान देना परम पवित्र कर्तव्य है। इस विषय में ऋषियों ने कहा है :—

अभयं सर्वं भूतेभ्यो यो ददाति दयापरः ।

तस्य देहाद्विमुक्त्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥

अर्थात् जो दयालु मनुष्य सब प्राणियों को समपदान देता है उसको कमी भी किसी से भय नहीं होता ।

राजस दान

बहु प्राणुभ्यार्यं कस्तुतिष्व वा युवा ।

दीकते च परिहित्य द्याकम्पुदादम् ॥

वीर्य

जो उपकार का फल पात्र के छिप, फल की दृष्टि से और बड़े कष्ट से दिया जाता है, वह राजस दान है । ऐसा दान त्याग्य है ।

तामस दान

अज्ञानेन दद्यान्मयाज्जन्मस्य दीकते ।

अज्ञानेनमयाज्जन्मस्य दद्यान्मयाज्जन्मस्य ॥

मिथ्या

दयाकाश्यास का विचार न करके जो दान दिया जाता है, जिस दान में उत्कार नहीं है, अपमान से भरा हुआ है, वह तामस दान है । बहुत लोग अन्याय से दूसरों का धन हरण कर के दानपुण्य करते हैं, पर ऐसे दानपुण्य से उनको कुछ फल नहीं हो सकता । ऐसे दाता के छिप कहा है —

अज्ञानेन दद्यान्मयाज्जन्मस्य दीकते ।

स दाता नरकं गतिं कर्माप्यस्तस्य तत्तदम् ॥

अर्थात् जो दूसरों का धन हरण करके—अन्याय से धन कमाकर दानधर्म करता है, वह दाता नरक को जाता है, क्योंकि जैसी जिसकी कमाई होती है, वैसा ही उसका फल होता है ।

इस छिप न्यायपूर्वक, अपनी सच्चे परिग्रह से द्रव्योपादान करके सात्त्विक दानधर्म करना ही मनुष्य का कर्तव्य है ।

तप -

हम कह चुके हैं कि, सत्कर्मों के लिए, अर्थात् धर्माचरण के लिए, कष्ट सहना ही तप है। तप का इतना ही अर्थ नहीं है कि, कड़ी धूप में बैठकर, अपने चारों ओर से आग जलाकर, पञ्चाग्नि तापो। यह तामसी तप है। इससे कुछ भी लाभ नहीं—हा इतना लाभ हो सकता है कि, शरीर को आंच सहने की आदत पड़ जावे। इसी तरह नाना प्रकार के कठोर व्रतों का आचरण करने से भी कोई विशेष लाभ नहीं। हां, यदि किसी ऊँचे उद्देश्य के पूर्ण होने में ऐसे तपों से सहायता मिलती हो, तो और बात है। अन्यथा ऐसे तपों को तामसी ही कहना चाहिए। भगवान् कृष्ण गीता में कहते हैं —

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते यो तपो जना ।

दम्भाहंकारसयुक्तं कामरागबलान्विता ॥

कर्पयन्त शरीस्थं भूतग्राममचेतसः ।

मा चैवान्त शरीरस्थं तान् विदध्यासुरनिश्चयान् ॥

गीता ।

जो लोग वेदशास्त्र की मर्यादा को छोड़ कर घोर तप में तपा करते हैं—दम्भ, अहंकार से युक्त, काम और राग के बल से शरीर को और आत्मा को व्यर्थ कष्ट देते हैं, उनको राक्षस जानो। वे तपस्वी नहीं हैं। उनके चक्कर में कोई मत आओ। सात्त्विक, राजस और तामस, तीनों प्रकार के तप का वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं :—

श्रद्धया परया वस तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।

अफलाकाक्षिमियुक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।

शिवतः तद्विह प्रोक्तं राजसं कथमाश्रयम् ॥

सुदुपारेवात्मनो वत्सीहवा शिवते ततः ।

परस्वोत्सादनार्थं वा वक्षामस्तुषाहम् ॥

धीरा

अर्थात् राजस पुण्य, फल की इच्छा न रखते हुए, उत्तम भरा के साथ कायिक, वायिक और मानसिक आ तीन प्रकार का तप करते हैं (जिसका वर्णन भागे किया गया है) उसी को सात्विक तप कहते हैं । इससे आत्मा का और लोक का हानि का हित होता है ।

दूसरा राजस तप है । यह दम्भ से किया जाता है अर्थात् मनुष्य ऊपर से दिखाता है कि, हम यह अच्छे कार्य में लगे हुए हैं ; परन्तु ऊपर से इसका कोई स्वार्थ होता है । यह तप वह अपने सरकार, मान अथवा पूजा के लिए करता है— वह चाहता है कि लोग उसको अच्छा कहें । यह तप मिथ्या है ।

तीसरा तामस तप है । किसी हठ में जाकर मनुष्य अपने-आपको पीड़ा देता है, उसके मन में कोई अच्छा हेतु नहीं होता । अथवा किसी का मारण-भोग-उपहास करने के लिए तप करता है । आक्रान्त मां भाग किसी दुस्मन को मारने के लिए, अथवा उसको हानि पहुंचाने के लिए, अथवा अपना झूठा मुकद्दमा जीतने के लिए ही तप या पूजा-याद या पुरस्करण करते-कराते हैं । यह बिल्कुल अधम तप है ।

सात्विक तप का ही ग्रहण करना चाहिए । अन्य दो प्रकार के तपों का त्याग करना चाहिये । सात्विक तप किस प्रकार किया जाय—उसके कायिक, वायिक, मानसिक तीन भेद किए गए हैं :—

शरीर का तप

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।

ब्रह्मचर्यमर्हिंसा च शारीर तप उच्यते ॥

देवता, द्विज, गुरु, विद्वान्, इत्यादि जो हमारे पूजनीय है, उनकी पूजा करनी चाहिए। उनको अपनी नम्रता, सुशीलता, आदर-सत्कार से सन्तुष्ट रखना ही उनकी पूजा है। शौच—यानी शरीर, वस्त्र, स्थान, मन, आत्मा, बुद्धि इत्यादि को सब प्रकार से पवित्र रखना, मन में कोई भी बुरा भाव कभी न आने देना। शरीर, वस्त्र, स्थान, इत्यादि निर्मल रखना। यही शौच है। आर्जव—नम्रता और सरलता धारण करना। छल-कपट कुटिलता, मिथ्या, दम्भ, पाखण्ड, इत्यादि का त्याग, यही आर्जव है। ब्रह्मचर्य—सब इन्द्रियों का सयम करते हुए वीर्य की रक्षा करना। सदैव विद्याभ्यास करते रहना। पर-स्त्री को माता समझना। यही ब्रह्मचर्य है। अर्हिंसा—प्राणिमात्र का वध करना तो दूर की बात है, उसको किसी प्रकार भी कष्ट न देना। यही अर्हिंसा है। इन सब गुणों का अभ्यास अपने शरीर और मन से करना और इनके अभ्यास में चाहे जितना कष्ट हो, उसको सहना—यही शारीरिक तप है।

वाणी का तप

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियद्वितं च यत् ।

स्वाध्यायान्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

ऐसी बात न बोलो, जिसको सुनकर उद्वेग पैदा हो, किसी का मन ऊब उठे। सच बोलो। जिस बात को जैसा देखा सुना हो, अथवा जैसा किया हो, अथवा जैसा तुम्हारे मन में हो, उसको वैसा ही अपनी वाणी-द्वारा प्रकट करो। क्योंकि वाणी को जो कोई बुराता है वह बहुत बड़ा चोर है। महर्षि मनु ने कहा है —

वाच्यार्थं विवृताः सर्वे वाक्यस्य वाग्विधिः स्यात् ।

तं तु वा स्तेकोद्धारं च धर्मस्तेवङ्गम् ॥ —

मनुस्मृतिः ।

अर्थात् संसार के सारे व्यवहार बाणी पर ही निर्भर हैं, सब वाणी से ही निकले हैं, और बाणी से ही बँधते हैं, इसलिये बाणी का जो मनुष्य पुरस्ता है, (मिथ्या भाषण करता है, मगवा पाकिस्ती से गोकमाछ बोझता है) वह मानों सब प्रकार की खोरी कर चुका । क्योंकि बाणी से ही जब संसार के सब व्यवहार हैं, तो फिर उससे अब कौन सी खोरी बाकी रही ! इन्हीं मगवा पाकिस्तीबाज़ मनुष्य ही सबसे बड़ा खोर हैं ।

अब इसके बाद बाणीके तप में प्रिय' बोझना भी है । पण्डु मगवान् ने 'प्रिय' के साथ 'हित' का पक्ष भी रखा है । इसका सार्वभ्य यह है कि, वाणी प्रिय भी हो साथ ही हित-कारक हो, क्योंकि यदि वाणी प्रिय तो हुई, पण्डु हितकारक न हुई, तो वह "कुरुरसुहार्ता" या चाफूसी कहलायगी । मनुजी ने इस विषय में कहा है —

उत्तमं नृणां प्रियं नृबान्धनं नृणां स्वस्वमप्रियम् ।

प्रियं च वाच्यं नृबाधनं कर्मा समाधत्ता ॥

मय्यप्रमितिं नृबाधनमित्येव वा ज्ञेयम् ।

हृत्कवैर विचार्य च न कुर्वीतकथमित्यर्थः ॥ —

मनु०

अर्थात् सत्य बोझा, और प्रिय बोझी । अप्रिय सत्य, अर्थात् काने को काना मत कहो । प्रिय हो, पण्डु दूसरे को प्रसन्न करने के लिये, ऐसा प्रिय मत बोझो कि जो मिथ्या हो । सदा मय्य अर्थात् दूसरे के लिये हितकारी बचन बोझो । स्वार्थ को और न

बढ़ाओ। बिना मतलब ऐसी चाहियात बात मत करो कि किसी को बुरा मालूम हो। किसी के साथ विवाद भी न करो। आनन्द के साथ सवाद करो।

परन्तु कभी कभी ऐसा भी मौका आ जाता है कि किसी अच्छे उद्देश्य से अप्रिय सत्य भी बोलना पड़ता है। दूसरे का हित होता हो, तो अप्रिय सत्य—कड़वी सच्चाई—कहने में भी विशेष हानि नहीं। परन्तु यह बड़े साहस का काम है। जिनकी आत्मा मजबूत है, वही ऐसा काम कर सकते हैं। महाभारत, उद्योगपर्व, विदुरनोति में कहा है.—

पुरुषा बहवो राजन् सततं प्रियवादिन् ।

अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥

महाभारत

अर्थात् हे राजा धृतराष्ट्र, इस ससार में दूसरे को निरन्तर प्रसन्न करने के लिए प्रिय बोलनेवाले प्रशंसक—मिथ्या प्रशंसक भी—बहुत हैं, परन्तु जो सुनने में तो अप्रिय मालूम हो, किन्तु हो कल्याणकारी—ऐसा वचन कहने और सुननेवाला पुरुष दुर्लभ है।

इस लिए सज्जन और सत्यवादी पुरुष सदा खरी कहते हैं, और दूसरे से खरी सुनने की सहनशक्ति भी रखते हैं। परन्तु पीठ-पीछे दूसरे की निन्दा नहीं करते, किन्तु उसके गुणों का ही प्रकाश करते हैं। इसके विरुद्ध जो दुर्जन होते हैं, वे मुँह पर तो चिकनी-चुपड़ी बनाकर कहते हैं, और पीठ-पीछे उसकी बुराई करते हैं।

अस्तु। वाणी के तप में मुख्य बात यही है कि सत्य और हितकारक वचन कहे। फिर स्वाध्याय का भी अभ्यास रखे। अर्थात् ऐसे ग्रन्थों का पठन-पाठन सदैव करता रहे कि जिनसे ज्ञान, सदाचार, धर्म, ईश्वरभक्ति, इत्यादि की वृद्धि हो।

यही सब पापी का तप है।

मन का तप

मनः प्रसाद्य सोम्यत्वं मौनमात्मविनिर्मुक्तम् ।

भाष्यसंग्रहविनिर्मुक्तो मायामुच्यते ॥

मीमांसा

अर्थात् (१) मन को सर्वत्र प्रसन्न रखना किसी प्रकार का भी भीतरी अथवा बाहरी आघात मन पर हो, चाहे भीतर की कोई किन्ता बड़े, अथवा बाहर से कोई ऐसी बात हो जिससे मन को क्लेश होनेवाला हो—प्रत्येक दशा में मन की शान्ति को स्थिर रखे। सदा ऐसा प्रसन्नचित्त रहे कि उसके प्रसन्नमन को देखकर दूसरे को भी प्रसन्नता आजाये। (२) सौम्यता धारण करे, जैसे कन्दमा शीतल और भद्रावकाशक होता है, वैसी ही शीतलता और अमन्यु को अपने मन में धारण करने का प्रयत्न करे। (३) मौन धारण करे। मौन-धारण का सर्वत्र यह मतलब नहीं होता कि मुँह बन्द रखे, कुछ बोले ही नहीं, किन्तु मौन का इत्ता ही मतलब है कि जिसकी आवश्यकता हो, उतना ही बोले, और यदि कमी कमी चिन्तुक ही मौन रखा करे, तो भीर भी अच्छा। (४) आत्मनिग्रह—अर्थात् अपने आपको वश में रखना—मन जब बुरे कामों की तरफ जाने लगे, तब उसको रोकना। (५) भावसंग्रह—अर्थात् मन में सर्वत्र कल्याणकारी भावना आये कमो बुरी भावना को धारण न करे। यही सब मन का तप कहलाता है।

इस तीनों प्रकारके सात्त्विक तपों का प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन में अभ्यास करना चाहिए। सिध्दा इससे कल्याण चाहिए।

परोपकार

मनुष्य के सब धर्मों में श्रेष्ठ परोपकार-धर्म है। दूसरे के साथ भला करना, दीन दुखियों पर दया करना, अत्याचार से पीड़ित लोगों की सहायता करना मनुष्य का परम धर्म है। किसी चिद्वान् ने कहा है कि—

अष्टादश पुराणानां व्यासस्य वचनद्वयम् ।

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

अर्थात् अठारहो पुराणों में, जो महर्षि व्यास के रचे हुए माने जाते हैं, उनमें व्यास जी के दो ही वचन हैं, और ये वचन सब पुराणों के सारभूत हैं। वे दो वचन कौन हैं? यही कि, परोपकार के समान कोई पुण्य नहीं, और परपीड़ा के समान कोई पाप नहीं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है —

परहित-सरित धर्म नहि भाई ।

पर-पीड़ा सम नहि अधमाई ॥

परोपकार के समान कोई धर्म नहीं, और दूसरे को दुख देने के समान कोई अधर्म नहीं। जो परोपकार का व्रत लेते हैं, वही सच्चे साधु हैं। एक बड़े साधु ने कहा है कि, जो दीनहीन दुखियों को और दूसरे से पीड़ित लोगों को अपना मानता है, उनकी सेवा में अपना तन मन धन अर्पण करता है, वही बड़ा साधु है और उसी में ईश्वर का निवास है। हमसे यदि कोई पूछे कि, ईश्वर कहा है, तो हम कहेंगे कि, वह सब से पहले परोपकारी पुरुष में है। ऐसे पुरुषों का अपना कोई नहीं होता— सब अपने होते हैं। जैसी दया ये अपने यशों पर करते हैं, अपने दासदासियों पर करते हैं, वैसी ही दया दीन-दुखियों

पर अत्याचार-पीड़ित लोगों पर, करते हैं। अगर देखते हैं कि किसी देश के लोग अत्याचारी शासन से पीड़ित हो रहे हैं, उन पर क्रुद्ध हो रहा है, तो वे उस क्रुद्ध से उनको छुड़ाने का प्रयत्न करते हैं। परोपकारी पुरुष यदि देखता है कि अपने लूटे-छीनके मूख-प्यास और आड़े से मर रहे हैं, तो उस पर दया करके अपनी शक्ति मर उनका कुछ बुर करता है। परोपकारी पुरुष यदि देखता है कि अमुक जगह के लोग भ्रष्टान-अन्धकार में डूबे हुए हैं, उनको अपनी मुक्ति का मार्ग नहीं सुझा दे रहा है तो वह ऐसे पुरुषों को विद्यादान देकर—उनको सुन्दर शिक्षा का प्रबन्ध करके—उनको उस भ्रष्टान से छुड़ाता है। परोपकारी पुरुष सारे संसार पर प्रेम करता है। उसका कोई अपना मित्र का घर नहीं है, मित्र पर अधिक प्रेम करे। और यदि उसका कोई घर है, तो अपने घर पर भी उतना ही प्रेम करता है जितना दूसरों पर करता है। इसी छिपे कहा जाता है कि परोपकारी लोग विश्वकण्ठ होते हैं। किसी कवि ने बहुत ठीक कहा है कि :—

अहं मित्रं परोमेति पन्था मनुषेवसाम् ।

अद्वारपरिग्रहान्तु कश्चैनं मनुष्यम् ॥

अर्थात् यह अपना है यह पराया है—ऐसा हिस्सा तो कुछ हृदय बाँटे लोगों का है, जिनका तंग दिख है। जो अद्वार-हृदय पुरुष हैं, जिनका मित्र बड़ा है, उनके छिपे तो सारा संसार ही उनका कुटुम्ब है।

इतना ऊँचा भाव न किया जावे काखी सांसारिक व्यवहार पर ही ध्यान दिया जावे तो भी परोपकार करना मनुष्य का धर्म उठता है। क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य का मनुष्य के साथ सम्बन्ध पड़ता है। क्या

इसके काम नहीं चल सकता । एक मनुष्य यदि दूसरे के साथ उपकार न करे, तो उसका काम कैसे चले ? जब वह दूसरे के साथ उपकार करेगा, तब दूसरे भी उसके साथ उपकार करेंगे, परन्तु इस प्रकार का उपकार नीचे दर्जे का उपकार है । बदला लेने की गरज से यदि हमने किसी के साथ भलाई की, तो क्या की ! सूझा उपकार तो वही है, जो निष्काम भाव से किया जाय । परोपकार कोई अभिमान की बात नहीं है—यह नहीं कि हमने किसी दूसरे के साथ कोई उपकार किया, तो कोई बड़ा भारी काम कर डाला । परोपकार से दूसरे का हित तो पीछे होता है, पहले अपना ही हित हो जाता है । परोपकार से हमारी आत्मा उन्नत होती है, हमारे अन्दर सद्भाव बढ़ता है, हमारा हृदय विशाल होता है । नम्रता और सेवा का भाव बढ़ता है । इससे स्वयं हमारे हृदय को भी सुख होता है । इस लिए परोपकारी पुरुष स्वभाव से ही नम्र होते हैं । उनमें अभिमान नहीं होता । परोपकारी किस प्रकार नम्र होते हैं, इस विषय में किसी कवि ने बहुत ही सुन्दर एक श्लोक कहा है—

भवन्ति नम्र तत्र फलोद्गमै-

नधाम्बुभिर्भूरिषिलम्बिनो घना ।

अनुद्धता सत्पुरुषा सद्यद्विभि.

स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥

वृक्ष बड़े भारी परोपकारी हैं, उनसे हमारा कितना हित होता है । उनमें जब फल आते हैं तब वे नम्र हो जाते हैं । इसी प्रकार बादल भी हमारे उपकारी हैं, उनमें जब पानी भर आता है, तब वे भी नीचे लच जाते हैं । इसी प्रकार सज्जन पुरुष वैभव पाकर नम्र हो जाते हैं । परोपकारी पुरुषों का तो यह स्वभाव ही होता है । नम्रता उनका स्वभावसिद्ध गुण है ।

सर्वांग यह है कि परोपकार करते हुये मनुष्य को अधिक लाभ नहीं होना चाहिये, और न सच्चे परोपकारी का कमी अधिकता होता है। भाग्यकाल प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जो वृक्षों के उपकार का काम करते हैं, वे समझते हैं कि हम तो कोई बड़े नादमी हैं, सब लोगों को हमारा भावर करना चाहिये। परन्तु वास्तव में परोपकारी का भाव ऐसा होने से बसका सब परोपकार व्यर्थ हो जाता है।

परमात्मा की यह सारी सृष्टि परोपकारमय है। यद्यपि वह जड़-चेतन स्थावर-जड्भूत, जिसकी वस्तुमें हैं, सब परोपकार के लिए हैं। परन्तु वृक्षों के उपकार से ही यह सृष्टि बल रखी है। परमात्मा, हम सब का पिता ऐसा दयालु और परोपकारी है कि वह जड़ वस्तुओं से भी हमको परोपकार की ही शिक्षा देता है। जिसी कवि ने क्या ही अच्छा कहा है:—

विभिन्न जगः स्वमेव वास्यते ।

स्वमेव वास्यते जगन्मिदं ।

वास्यते जगन्मिदं वास्यते ।

परोपकारात् जगन्मिदं वास्यते ।

अर्थात् जगत् स्वयं वासी नहीं पतिती। वृक्ष स्वयं फल नहीं खाते। वायु स्वयं धान्य नहीं खाती। हमारे लिए सब वस्तु बन फलदा उपजाती हैं। इसी प्रकार सृष्टिकर्ता पुण्योंने सब जो कुछ द्रव्य होता है, वे उसे अपने काम में नहीं खाते। सब परोपकार में ही कर्म करते हैं।

परोपकारी पुण्य जब निष्काम होकर परोपकार करते हैं, तब कर्म लोग स्वयं ही भाकर उनकी सेवा करते हैं। जिसने अपना तब मम मन सब कुछ वृक्षों के लिये अर्पण कर दिया उसके लिये कमी किस बात की? परन्तु कवि ने कहा है:—

परोकरणं येषां जागर्ति हृदये सताम् ।

नश्यन्ति विपदस्तेषां संपदः स्युः पदे पदे ॥

जिस सत्पुरुष के हृदय में सदैव परोपकार जागृत रहता है, उसकी सारी विपदाएं नाश होजाती हैं; और पद पद पर उसको सम्पदा मिलती है। पर सम्पदा की उसको परवा कहा है? उसको तो सम्पदा और आपदा दोनों बराबर हैं। वह तो अपने परोपकार रूपी भारी कार्य में मग्न है। राजर्षि भर्तृहरि जी ने ऐसे परोपकारी कार्यकर्त्ता पुरुष की दशा का बहुत ही अच्छा वर्णन किया है —

क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यक्शयनम् ।

क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचि ॥

क्वचित्कंथाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो ।

मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम् ॥

अर्थात् ऐसा परोपकारी कार्यकर्त्ता पुरुष कभी तो पृथ्वी पर कङ्कड़ों में ही सो रहता है, कभी सुन्दर पलंग पर सोता है, कभी शाक खाकर रह जाता है, कभी सुन्दर सुस्वादु भोजन मिल जाते हैं, तो उनसे भी उसे उतना ही सन्तोष होता है—कभी कथड़ी-गुदड़ी ओढ़कर ही अपना काम चला लेता है; और कभी सुन्दर रेशमी वस्त्र धारण करने को मिल जाते हैं, तो उन्हीं को पहन लेता है। सच तो यह है कि वह अपने काम में मस्त रहता है। उसको ऐसे सुख-दुःख की परवा नहीं रहती।

पाठको, आइये, हम सब भी अपने जीवन में परोपकार के ब्रती बनें, और दोनों लोकों में सुखी हों।

ईश्वर-भक्ति -

जिसमें हम सब को और इस सारे संसार को रखा है, जिसकी प्रेरणा से सूर्य चन्द्र और तारामण्डल नियमित गति से अपना अपना कार्य करते हैं जिसकी इच्छासे वायु बहती है, मेघ बरसता है, पृथ्वी में जल-व्यवस्थायां उत्पन्न होती हैं, पशु-परिचर्या ठीक समय पर होता है, जिसकी शक्तिसे सागर अपनी मर्यादाओं में बहते हैं, और जिसकी सत्तामात्र से सुर-वर मुनि सब अपना अपना व्यवहार करता है, वही सर्वशक्तिमान्, पुण्योत्तम ईश्वर के नाम से पुकारा जाता है। वह सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है। जो कुछ हमको बिचार देता है, और जो कुछ नहीं बिचार देता सब में वह मरा हुआ है, और सब व्यापक उसके पैर में है। उसकी ही सत्ता का सब जगत् अनुभव कर के जो मनुष्य संसार में पड़ता है, उस पर उसके विद्येय हुआ होती है। वही मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है। कृप्य भगवान् ने पीता में कहा है :—

एवमनुष्मिन् तावत् येन सर्वम् ।

सकलं भाव्यते ।

गीता

जिससे सम्पूर्ण भूतमात्र—सारे जड़चेतन प्राणी—उत्पन्न हुए हैं, और जिसके सामर्थ्य से सारा जगत् पक रहा है उस परम पुरुष परमात्मा की पूजा अपने कर्मोंके द्वारा करके ही मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। इस छिद्र दिन-रात, चौबीसों घंटे, प्रत्येक कार्य करते हुए, उसका स्मरण रखना मनुष्य का कर्तव्य है। अपना सारा व्यवहार उसके हेतु करके

अपने सब कर्म उसको समर्पित करने चाहिये' । इसके सिवाय, प्रातःकाल और सायंकाल विशेष रूप से उसकी उपासना करने से चित्त प्रसन्न रहता है, हृदय में घट जाता है ; और परमात्मा की सर्वशुद्धता और सर्वव्यापकता का अनुभव कर के मनुष्य बुरे कर्मोंसे बचा रहता है । देखिये, उपनिषद्में कहा है—

स्वप्नान्तं जागरितान्तं घोभौ येनानुपश्यति ।

महान्तं विभुमात्मानं मत्मा धीरो न शोचति ॥

उपनिषद्

अर्थात् प्रातःकाल, सोने के अन्त में, और सायंकाल, जागृत अवस्था के अन्त में, जो जोर पुरुष उस महान सर्वव्यापक परमात्माकी उपासना और स्तुति करता है, उसको किसी प्रकार का शोच नहीं होता । इसलिए आयालवृद्ध श्री पुरुष भव का यह परम धर्म है कि वह सुबह चारपाई से उठते ही और रात को सोने के पहले इस प्रकार इंश्यर की प्रार्थना करें—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव ।

त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ॥

त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव ।

त्वमेव सर्वं मम देषदेव ॥

हे देवों के देव भगवान्, आप ही हमारे माता हैं, और आप ही पिता हैं, आप ही बन्धु हैं, और आप ही सखा हैं, आप ही विद्या हैं, और आप ही हमारे धन हैं । (कहा तक कहें) आप ही हमारे सर्वस्व हैं ।

य प्रज्ञावरुणेन्द्रब्रह्मरुतं स्तुन्वन्ति दिव्यै स्तवै-

र्वै सारूपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगा ॥

ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति य योगिनो ।

यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

प्रिया ब्रह्म, इन्द्र और महत्तम दिव्य स्त्रियों से जिसकी स्तुति करते हैं सामगायन करनेवाले लोग, पंडित पण्डित और उपनिषद् के साथ यहाँ के द्वारा जिसका मान करते हैं, योगिजन ध्यानावस्थित होकर, तद्वाकार मन से जिसकी देखते हैं सुर और असुर भी जिसका भक्त नहीं पाते, उस परम पिता परमात्मा को नमस्कार है।

कमलते स्ते ते अक्षरान्यत्र कमलते स्ते कर्मयोगात्मा ।

कमलते स्ते ते अक्षरान्यत्र कमलते स्ते कर्मयोगात्मा ।

संसार को उत्पन्न करनेवाले उस अनादि, अमृत परमात्मा का नमस्कार है। सम्पूर्ण लोकों के आश्रयभूत उस चैतन्यस्वरूप परमात्मा को नमस्कार है। मुक्ति देनेवाले उस अक्षरान्यत्र को नमस्कार है। हे सदासर्वदा रहनेवाले, सर्वव्यापी ईश्वर, आपकी नमस्कार है।

कमलते स्ते ते अक्षरान्यत्र कमलते स्ते कर्मयोगात्मा ।

कमलते स्ते ते अक्षरान्यत्र कमलते स्ते कर्मयोगात्मा ।

हे भगवान्, तुम ही एक शरण देनेवाले हो तुम ही एक भक्ति करने योग्य हो तुम्हीं एक संसार का पावन करनेवाले और प्रकाशस्वरूप हो तुम्हीं एक संसार की रक्षा पावन और हरण करनेवाले हो तुम्हीं एक सब से श्रेष्ठ, निश्चय और निर्विकल्प हो—मर््यात् तुम्हारा कभी नाश नहीं है, और तुम कल्पना से बाहर हो।

कमलते स्ते ते अक्षरान्यत्र कमलते स्ते कर्मयोगात्मा ।

कमलते स्ते ते अक्षरान्यत्र कमलते स्ते कर्मयोगात्मा ।

तुम्हीं एक भयों के भय और भीषणों के भीषण हो सब प्राणिनों के एकमात्र गति तुम ही हो पावनों को भी पावन करनेवाले

हो, बड़ों से बड़ों के भी तुम ही एक नियन्ता हो। तुम श्रेष्ठों में भी श्रेष्ठ हो, और रक्षकों के भी रक्षक हो।

त्वमादिदेव. पुरुष. पुराणस्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।

वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया तत् विश्वमनन्तरूप ॥

हे अनन्तरूप, तुम्हीं आदिदेव हो, तुम्हीं पुराण पुरुष हो, तुम्हीं इस विश्व के परम निधान हो। तुम्हीं सब के जाननेहारे हो, और (इस ससार में) जो कुछ जानने योग्य है, सो भी तुम्हीं हो। तुम्हीं परम धाम हो, और (हे भगवन् !) तुम्हीं ने इस सारे संसार को फैलाया है।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुह्यं गीयान्।

न त्वत्समोऽस्त्यन्यधिक कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥

भगवन् ! इस चराचर जगत् के पिता तुम्हीं हो, और तुम्हीं सब के पूजनीय सद्गुरु हो। तुम्हारे समान और कोई नहीं—फिर तुम से बड़ा और कौन हो सकता है? तीनों लोक में आपका अनुपम प्रभाव है।

इस प्रकार सुबह-शाम परमात्मा की स्तुति और प्रार्थना करके वेदमन्त्र से इस प्रकार उससे वरदान मांगना चाहिए—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि । धीर्यमसि धीर्यं मयि धेहि । बलमसि बलं मयि धेहि । भोजोऽयोजो मयि धेहि । मन्युरसि मन्युं मयि धेहि । सहोऽसि सहो मयि धेहि ।

हे परमपिता परमात्मन्, आप प्रकाशस्वरूप हैं, कृपा कर मुझ में प्रकाश स्थापन कीजिए। आप अनन्त-पराक्रम-युक्त हैं, इस लिए मुझ में अपने कृपाकटाक्ष से पूर्ण पराक्रम धरिये। आप अनन्तबल-युक्त हैं, इस लिए मुझ में भी बल धारण कीजिए। आप अतन्तसामर्थ्य-युक्त हैं, इस लिए मुझको भी

सामर्थ्य दीजिए। आप कुछ कार्यों और पुष्टों पर क्रोध करने वाले हैं, मुझको भी वैसा ही बनावे। आप किष्कासुति और अपनी अपराधियों की सहाय करनेवाले हैं, क्या करके मुझको भी वैसा ही सहायशील बनावे।

यही ईश्वर-भक्ति का फल है कि सब ईश्वरीय पुष्टों को हम अपने हृदय में धारण करें। ईश्वर का सन्ना भक्त यही है, जो उसकी आज्ञा के अनुसार बहककर, स्वयं कुछ पाता और संसार को सुखी करके हुए अपनी जीवनयात्रा पवित्रतापूर्ण कर लेता है।

गुरुभक्ति

माता पिता आचार्य और ब्रह्मणे लोग हमसे विद्यामुक्ति और भवका में बड़े हैं, सब गुरु हैं। उनका आदर-सम्मान और सेवा करना धर्म है। बड़े लोगों की सेवा से क्या लाभ होता है, इस विषय में मनुजी कहते हैं :—

अभिवादनशीलान् शिष्यं हृदोऽस्तेष्विति ।

ज्वारि लान् बर्हन्त आनुविचापकोऽप्यम् ॥

॥

अर्थात् जो लोग भक्त और सुशील होते हैं, और प्रति शिष्य विद्वान् बृह पुष्टों की सेवा करते रहते हैं, उनकी चार बातें बढ़ती हैं—मायु, विद्या तथा और बल।

बृह लोगों के पास बैठने-उठने उनकी सेवा करने, उनकी आज्ञा मानने से वे ऐसा उपदेश करते हैं और स्वयं भी उनका सदाचारण देखकर हमारे ऊपर, ऐसा प्रभाव पड़ता है कि

जिससे हमारी आरोग्यता और चित्त की शान्ति बढ़ती है, जिससे आयु की वृद्धि होती है। उनका अनुभव, ज्ञान इतना प्रभावशाली होता है कि उसको देख सुनकर हमारी विद्या और जानकारी बढ़ती है, और इसी प्रकार उनका सत्संग करने से यश और उनका ब्रह्मचर्य, इत्यादि को देखकर शारीरिक बल बढ़ता है। शतपथ ब्रह्मण में कहा है —

मातृमान् पितृमान् आचार्यमान् पुरुषो वेद ।

शतपथ०

अर्थात् जिसके माता-पिता, आचार्य इत्यादि गुरुजन विद्वान्, शूरवीर और बुद्धिमान हैं, वही पुरुष ऐसा हो सकता है। वृद्धों को देखते ही, उनका किस प्रकार अभिवादन और स्वागत सत्कार करना चाहिए, इस विषय में भगवान् मनु कहते हैं —

अभिवाद्येद् वृद्धाश्च दद्याच्च वासमं स्वकम् ।

कृताञ्जलिस्पासीत गच्छत पृथतोऽन्वितात् ॥

मनु०

अर्थात् जब वृद्ध लोग हमारे पास आवें, तब उठकर बड़ी नम्रता के साथ उनको प्रणाम करें, और अपना आसन उनको देकर स्वयं उनके नीचे बैठें, फिर बड़ी नम्रता और सुशीलता से उनसे वार्तालाप करें, उनका सत्कार करें, और जब वे चलने लगें, तब कुछ दूर तक उनके पीछे पीछे जावें ।

ये विनय और नम्रता के भाव मनुष्य में श्रद्धा और भक्ति पैदा करते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि हम वृद्ध किसको समझें? क्या जिसके बाल पक गये हैं, रीढ़ झुक गई है, शरीर में झुर्रियां पड़ गई हैं, वही वृद्ध है? महर्षि मनु इसका उत्तर देते हैं :—

न हास्यैर्न चरितैर्न निषेध न कण्डूयि ।

अन्यथावशिष्टे धर्म बोधप्राप्तौ नो महान् ॥

अथ

अर्थात् जिसकी उन्नति ज्यादा है, अथवा जिसके बाह्य लक्षण हो गये हैं, अथवा जिसके पास धन अथवा जन बहुत हैं, वही कुछ नहीं है, किन्तु धर्मियों के मत से बूढ़ वही है जो विद्या, धर्म विद्वान् मनुष्य सदाचार, इत्यादि बातों में पड़ा है—फिर चाहे वह पाख, दूध, पुषा, स्त्री पुरुष—कोई हो, उसकी मज्जि और सेवा मनुष्य को अवश्य करना चाहिये। कड़े-सुई के साथ बीसा पत्ताप करना चाहिये, इस विषय में व्यास जी ने महाभारत में कहा है —

शुक्लं चैव विरक्तं न कर्तव्यं कदाचन ।

अनुमान्य प्रसादात्तं पुनः कुरुते पुषिष्ठि ॥

महाभारत

अर्थात् हे महात्मा शुषिष्ठि, कड़े-सुई के साथ कभी इत और चादबिचाद नहीं करना चाहिये। वे कदाचित् काय भी करें, तो स्वयं लज्जा धारण करके उनके प्रसन्न करना चाहिये। सब शुक्लों में भेष्य माता है। इसके समान कोई देवता संसार में नहीं है। (महाभारत निर्वाणपर्व में कहा है —

शुक्लं चैव कर्षेत्तं मत्ता परजको शुक् ।

माता शुक्लं भूतेषु मातुः पित्रोः परजन्म ॥

महाभारत

सब शुक्लों में मत्ता परज भेष्य शुद्ध है। परन्तु उसके बाद फिर पिता का अम्बर है। माता पृथ्वी से भी शुद्ध है, और पिता आकाश से भी ऊँचा है। दोनों का आदर करना चाहिये।

परन्तु आचार्य का दर्जा भी कुछ कम नहीं। व्यासजी कहते हैं —

शरीरमेतौ सृजतः पिता माता च भारत ।

आचार्यशास्त्रा या जाति सा सत्या साञ्जराञ्जरा ॥

महाभारत

पिता-माता तो केवल शरीर को ही जन्म देते हैं; परन्तु आचार्य ज्ञान और सदाचार, इत्यादि की शिक्षा देकर मनुष्य को जो जाति देता है, वह सत्य, अजर और अमर है इसलिये —

शुश्रूषते यः पितरं नासूयते कदाचन ।

मातरं भ्रातरं धापि गुरुमाचार्यमेव च ॥

तस्य राजन् फलं विद्धि स्वर्लोके स्थानमचित्तम् ॥

महाभारत

हे राजन्, जो मनुष्य माता-पिता, भाई, आचार्य, इत्यादि बड़े बड़े स्त्री-पुरुषों का आदर-सत्कार करता है, उनकी सेवाशुश्रूषा करता है, उनसे कभी द्वेष नहीं करता है, उसको परम सुख प्राप्त होता है। इसलिये—

भ्रातृप्रेमदुला वाणीं सर्वदा प्रियमाचरेत् ।

पित्रोराज्ञानुसारी स्यात्स पुत्र कुलपावन ॥

महाभारत

माता-पिता इत्यादि बड़े लोगों के सामने सदा मधुर वचन बोलो; और सदा ऐसा ही आचरण करो, जो उनको प्रिय हो। जो पुत्र माता-पिता की आज्ञा में चलता है, वह अपने कुल को पवित्र करता है। माता-पिता अपने पुत्रों से क्या आशा रखते हैं? क्या उनको कोई स्वार्थ है? नहीं, वे तो यही चाहते हैं कि, सब प्रकार हमारे पुत्र और पुत्री सुखी रहें। महर्षि व्यास जी इस विषय में कहते हैं —

स्वदेश-भक्ति

अपनी जन्मभूमि पर श्रद्धा और भक्ति होना भी मनुष्य का एक बड़ा भारी गुण है। जिस देश में हम पैदा हुए हैं, जिसके अन्न जल से हमारा शरीर पला, जिस देश के निवासियों के सुख-दुख से हमारा गहरा सम्बन्ध है, उस देश के विषय में अभिमान होना—उसकी भक्ति करना—हमारा परम कर्त्तव्य है। कहा है कि—

जननीजन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।

अर्थात् जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी श्रेष्ठ है। स्वर्ग का सुख तो केवल हम कानों से सुनते मात्र हैं, उसका कुछ भी अनुभव इस जन्म में हमको नहीं है, परन्तु अपनी मातृभूमि का दिया हुआ सुख हम पद पद पर अनुभव करते हैं। घी, दूध, मिठाई, सुन्दर अन्न-वस्त्र, इत्यादि इस भूमि से पाकर हम सुखी होते हैं। अपनी जन्मभूमि का स्वास्थ्यवर्धक जलवायु पाकर हम आनन्दित होते हैं। नाना प्रकार की ओषधियाँ प्रदान करके यही भूमि रोग के समय हमारी रक्षा करती है। इसके मनोहर प्राकृतिक दृश्यों को देखकर हमारा चित्त प्रफुल्लित होता है। जन्मभूमि के तीर्थस्थानों पर जाकर हम अपनी आत्मा और मन को पवित्र करते हैं। इसी की गोद में उत्पन्न होनेवाले साधु-महात्माओं की सत्संगति करके हम अपने चरित्र को सुधारते हैं। इसी भूमि पर प्राचीन काल में जो ऋषि-मुनि तथा विद्वान् हो गये हैं, उनके नाना प्रकार के शास्त्रों को पढ़कर हम अपना ज्ञान बढ़ाते हैं। इसी देश से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं से हमको जीविका मिलती है। कहाँ तक कहें,

स्वदेश का मनुष्य के जीवन से पद पद पर सम्बन्ध है, और इसीलिए विद्वानों ने इसको स्पर्श से भी श्रेष्ठ माना है।

हमारा देश भारतवर्ष है। इसका प्राचीन नाम भार्यावर्ष है। “भार्यावर्षे” अर्थात् पुण्यक्षेत्रे” इत्यादि कहकर हम प्रत्येक शुभकार्य पर संकल्प पड़ा करते हैं। इसका भी यही तात्पर्य है कि, हम इस पुण्यक्षेत्र-भार्यावर्ष को सर्वत्र याद करें। कोई भी शुभ कार्य करे उसे, अपने देश का अधिकपूर्वक स्मरण कर लें।

भार्यावर्ष का अर्थ यह है कि जहाँ कार्य छोड़ बारबार व्यवहार करें। कार्य करते हैं श्रेष्ठ को। इस प्रकार यह सृष्टि के भास्वि से ही श्रेष्ठ पुण्या के व्यवहार की भूमि है। जब सम्पूर्ण संसार भ्रमण में था जो छोड़ मात्र हमको सम्यक पता चलने है, वे जिस समय जमझी अवस्था में फिरे थे उस समय भार्यावर्ष में भस्वि-भूमि और जमीन छोड़ हुए थे, और यही से बाटों और बान का प्रकाश फैला था। इसी हमारी मातृभूमि के पगल में पहला प्रमात हुआ। यही के तपोवनों में पहले वेदमंत्रों का गान हुआ। बान धर्म और नीति का प्रचार सारे संसार में यही से हुआ। महर्षि मनु ने कहा है :—

कदा कदास्तुभ्यं जगतामकुलमगध ।

एवं एवं चरिषि विद्वेज् हविर्वा अर्चमाववात् ॥

मनु

अर्थात् इसी देश के उत्पन्न हुए प्राणियों—अर्थात् विद्वानों से सम्पूर्ण पृथ्वी के लोग अपने अपने करिष की शिष्टा लें। मनुजी के इस कथन से मान्य होता है कि, उस समय, सृष्टि के भास्वि में, हमारा ही देश सब से अधिक सुसम्य और विद्वान्

था। इसलिए इसका नाम पुण्यक्षेत्र और सुवर्ण-भूमि था। इस सुवर्णभूमि में जितने विदेशी लोग जय जय आये, खूब धनवान् बन गये। पारसमणि यही भूमि है। लोहरूप दखिनी विदेशी इसको छूते ही सोना, अर्थात् धनाढ्य, बन जाते हैं। अब भी यहाँ बात है।

किसी समय इस देश के राजा—क्षत्रिय लोग—सम्पूर्ण पृथ्वी में राज्य करते थे। विदेश में जाकर उन्होंने अपने उपनिवेश बसाये थे, और अपनी सभ्यता तथा धर्म का प्रचार किया था। महाभारत के वर्णन से जान पड़ता है कि, पाण्डवों ने अपने दिग्विजय में अनेक विदेशियों को जीता था। वही आर्यावर्त की पवित्र भूमि इस समय पराधीन हो रही है। सब कहते हैं—“पराधीन सपनेहु सुख नहीं”। इसलिए आज इस देश के निवासी बात बात में दूसरों का मुँह ताक रहे हैं। यह सब हमारे ही कर्मों का फल है। हम इस बात को भूल गये कि हमारा देश एक कर्मभूमि है। हम कर्म को छोड़कर भोग में पड़ गये; और झूठे कर्म, अर्थात् भाग्य, पर भरोसा करके बैठे रहे। आपस की फूट ने हमारी अकर्मण्यता को सहारा दिया, और हम अपना सब कुछ खो बैठे।

भाइयो, अब तो जग जाओ, अपनी जन्मभूमि की प्राचीन महिमा और गौरव का स्मरण करो। कर्म करने में लग जाओ। इस भारत-भूमि में जन्म पाना बड़े सौभाग्य की बात है; क्योंकि कर्म हम यहीं पर कर सकते हैं। अन्य सब देश भोग-भूमि हैं। कर्मभूमि यही है। कहा है कि—

दुर्लभ भारते जन्म मानुष्यं तत्र दुर्लभं ।

अर्थात् इस भारतवर्ष में—इस आर्यभूमि में—जन्म पाना दुर्लभ

है और फिर मनुष्य का जन्म-प्राप्ति तो और भी दुर्लभ है; क्योंकि मनुष्य कर्म इसी जन्म में और इसी भूमि में कर सकता है, और कर्म करते हुए ही मनुष्य को सौ वर्ष तक जीवित रहने के लिए यत्नपूर्वक में कहा है :—

दुर्लभमेव कर्मणि त्रिपिन्दिष्वर्थां कर्मा ।

पुण्यस्य हि धान्यमेतदस्ति च कर्म त्रिपिन्दो नरे ॥

यद्वा

अर्थात् मनुष्य कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की सम्मिष्टाप्ति करे, क्योंकि ऐसा करने से ही उसको कर्म बाधा नहीं रहेगी। यह कर्म जिस नहीं होया।

भारतभूमि पराधीनता में पड़ी हुई है। इसको पुनर्जागृत। इसके बीर पाठक करो, और स्वकर्मा करके इस लोक और पण्डोक को सफल करो। भारत-भूमि में जन्म लेने के लिए एक उत्सव है। वे इसके पीत पाते हैं —

पुण्यस्य देवाः त्रिपिन्दिष्वर्थां कर्मा ।

पुण्यस्य हि धान्यमेतदस्ति च कर्म त्रिपिन्दो नरे ॥

पुण्यस्य देवाः त्रिपिन्दिष्वर्थां कर्मा ।

पुण्यस्य हि धान्यमेतदस्ति च कर्म त्रिपिन्दो नरे ॥

अर्थात् देवगण इस भारतभूमि के पुण्यपीत पाते हैं। और कहते हैं कि, हे भारतभूमि, तू पुण्य है, पुण्य है। स्वर्ग और मोक्ष का फल सम्पादित करने के लिए वे देवता श्रेष्ठ अपने देवपुत्र से यहां मनुष्य-जन्म धारण करने आते हैं। पाठको, ऐसी पुण्यभूमि में बड़े मान्य से हमने मनुष्य की देह पाई है। अब इसको सार्थक करो। जिस तरह हो सके, माता को महान् संकट से पुनर्जागृत। यह बीमारी होकर अमृतपूर्ण देहों से मुहारी और देह रही है। इसकी पुण्य को। एक मग पुण्य,

चल-वीर्य, सब खर्च करके स्वधर्म और स्वदेश की सेवा में लग जाओ। जब तक भारतभूमि का उद्धार नहीं होगा, संसार में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। भारत के उद्धार पर ही संसार के अन्य देशों की शान्ति निर्भर है। इसी देश ने किसी समय संसार को शान्ति और सुख का सन्देश दिया था, और फिर भी इसी की वारी है। परन्तु जब तक यह स्वयं अपना उद्धार न कर ले, दूसरे का उद्धार कैसे कर सकता है ?

इसलिए सब को मिलकर अपनी जननी-जन्मभूमि की सेवा में लग जाना चाहिए।

अतिथि-सत्कार

जिसके आने की कोई तिथि नियत न हो और अचानक आ जाय, उसको अतिथि कहते हैं। ऐसे व्यक्ति का आदर-सत्कार करना मनुष्य का परम धर्म है। परन्तु वह अतिथि कैसा हो ? धार्मिक हो, सत्य का उपदेश करनेवाला हो, संसार के उपकार के लिए भ्रमण करता हो, पूर्ण विद्वान् हो। ऐसे ही अतिथि की सेवा से गृहस्थ को उत्तम फल मिलता है। ऐसा अतिथि यदि घर में अचानक आ जाय तो—

संप्राप्त्य त्वयितये प्रदद्यादासनोदके ।

अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥

उसका सन्मान के साथ स्वागत करे। उसको प्रथम पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय, तीन प्रकार का जल देकर फिर आसन, पर सत्कार पूर्वक बिठा ले। इसके बाद सुन्दर भोजन और उत्तमोत्तम पदार्थों से उसकी सेवा-शुश्रूषा करके उसको प्रसन्न

करे। इसके बाद स्नान मोक्षन करके फिर उस विद्वान् भक्तिपि के पास बैठकर, माना प्रकार के ज्ञान-पिज्ञान के ग्रन्थ करके उससे धर्म धर्म काम, मोक्ष का मार्ग पूछे, और उसके उत्तर से काम उठाकर अपना आचरण सुधारें। यही भक्तिपि-पूजन का फल है।

मात्रकाल प्रायः बहुत से पाण्डुपुत्री साधु, संन्यासी बैरागी धूमा करते हैं और गृहस्था के द्वार पर पहुँच जाते हैं; परन्तु इनमें से अधिकतर लोग पूर्ण और परमात्मा होते हैं। इनको भक्तिपि नहीं समझना चाहिए। भक्तिपि मनु ने ऐसे लोगों की सेवा का निषेध किया है —

वार्धक्यो विवर्धस्वात् वैराग्यविकारो जगत् ।

तैस्तुभ्यं वक्तव्यं त्वं वाक् मानेनापि वार्धकेत् ॥

मनु

अर्थात् ऊपर ऊपर से साधु का भेष बनाये हुए; परन्तु भीतर से दुष्टबादी, वैद्विद्वद् आचरण करनेवाले, विकार की तरह परस्पर और परस्पर की ताक लगातेवाले, शठ-मूर्ख हठी, दुरात्मा, अभिमानी, आप आने नहीं वृद्धों की माले नहीं, कुतर्की, धर्म्य करनेवाले कलहति, कलहा-भगत, ऊपर से शान्त दिखाई देंगे; परन्तु मौका पाते ही वृद्धों का घात करें—इस प्रकार के साधु संन्यासी मात्रकाल बहुत दिखाई देते हैं। और मूर्ख गृहस्थ स्त्री-पुरुष इनकी बुल में आकर अपना सर्वस्व नाश करते हैं; परन्तु भक्तिपि मनु कहते हैं कि इनका—

“वाक् मानेनापि वार्धकेत्”।

सुत्कार वाचीमात्र से भी न करना चाहिए—अर्थात् इनसे अच्छी तरह बोझना भी न चाहिए। आर्थे, और अस्मान्पूर्वक

चले जावें। क्योंकि यदि इनका आदर किया जायगा, तो ये और भी बढ़ेंगे, और अपने साथ ही साथ ससार को भी ले डूवेंगे।

ऐसे पाखण्डियों को छोड़कर यदि कोई भी सज्जन, फिर चाहे किसी कारण से वह हमारा शत्रु हो क्यों न बन गया हो, वह भी यदि कुसमय का मारा हमारे घर आ जाय, तो उसका भी आदर करना चाहिए। हितोपदेश में कहा है —

अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते ।

छेत्तुः पार्श्वगता छायां नोपसंहारते तह ॥

हितोपदेश

अर्थात् जैसे कोई मनुष्य किसी वृक्ष पर बैठा हुआ उस पेड़ को काट रहा हो, परन्तु फिर भी वह पेड़ उस मनुष्य के ऊपर से अपनी छाया को नहीं हटा लेता है, अपनी छाया से उसको सुख ही देता है, उसी प्रकार मनुष्य को उचित है कि शत्रु भी यदि अकस्मात् हमारे आश्रय को पाने के लिए घर आजाय, तो उसका भी आदर करे।

गृहस्थ के लिए अतिथि-यज्ञ सब से श्रेष्ठ माना गया है। धर्मग्रन्थों में कहा है —

न यज्ञैर्दक्षिणावहभिर्घृष्टैश्चुश्रूयया तथा ।

गृहीस्वर्गमवाप्नोति यथा चातिथिपूजनात् ।

काष्ठभारसहस्रेण घृतकुम्भशतेन च ।

अतिथिर्पुण्य भद्राशस्तस्य होमो निरर्थकः ॥

अर्थात् यज्ञ, दान, अग्निहोत्र, इत्यादि से गृहस्थ को उतना फल नहीं मिल सकता, जितना अतिथि की पूजा से। चाहे हजारों मन काष्ठ और सैकड़ों घड़े घी से होम करे, पर यदि अतिथि

मिरासा गया, तो उसका यह होम व्यर्थ है। इस लिए भतिथि सत्कार अवश्य करना चाहिये।

मान लो कि हम बड़े दृष्टिहीन हैं हमको स्वयंभूत वासन्धरों के वासन्धरों के लिए भय नहीं है, फिर हम भतिथि का क्या से किताये ? इस पर धर्म तो यही कहता है कि बाड़े वासन्धरों मूर्खों मर जायें, और स्वयंभूत मूर्खों मर जायें, पर भतिथि बिभुषण न सौदे। हमारे पुराणों में तो भतिथि-सेवा के ऐसे उदाहरण हैं कि यदि भतिथि के किसी गृहस्थ की भतिथि-सेवा की परीक्षा देने के लिए उसके वासन्धर का मांस मांगा, तो वह मांस गृहस्थ ने दिया ! पर वे भतिथि मां इतने समर्थ हाथ थे कि वासन्धर को फिर जीवित करके बड़े जाते थे, पर मात्र-कल न ता ऐसे भतिथि हैं, और न ऐसे भतिथि-सेवक ! भस्तु ! यदि कुछ भी घर में न हो तो उसके लिए महाभाण्ड में व्यासजी के कहा है —

गृहाभि धूमिकलं वाक् स्तुर्ध्वं च दृष्ट्वा ।

जगामगाभि दीप्तु भोधिज्यन्ते कदाचन ॥

महाभारत

अथान् तुष, मूमि, जल भीर सुन्दर सन्धे बचन, ये बार बातें तो किसी भी दृष्टि से भी दृष्टिहीन मछे भास्मी के घर में खींची हैं। इन्हीं से भतिथि का सत्कार करे—अर्थात् तुष का भास्म्य देकर उसको कम से कम शीतल जल से ही प्रसन्न करे, और फिर उससे ऐसी ऐसी बातें करे, जिससे उसका बिल समुद्र हो। वासन्धर मुनि ने अपनी नीति में कहा है —

शिक्षाव्यापारानेन धर्मं तुष्यन्ति जगताः ।

जगत्तन्नेव वक्ष्यन् वक्ष्ये किं दृष्टिवा ॥

वासन्धर-टीका

अर्थात् प्रिय वचन बोलने से ही सब प्राणी सन्तुष्ट हो जाते हैं। इसलिए कम से कम प्रिय वचन तो सब को अवश्य ही बोलना चाहिए। वचन में क्या दरिद्रता ?

यह तो गये-गुजरे हुए घरों की बात हुई, परन्तु जो समर्थ गृहस्थ हैं, उनको विधिपूर्वक अतिथि-सत्कार करना चाहिए। ऐसा नहीं कि, स्वयं आप तो बढ़िया-बढ़िया भोजन करें, और अतिथि को मामूली भोजन करा दें, इस विषय में महर्षि मनु ने कहा है :—

न वै स्वयं तदन्नोयादतिथिं यन्न भोजयेत् ।

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं चातिथिपूजनम् ॥

मनु०

अर्थात् जो भोजन अतिथि को न कराया हो, वह भोजन आप स्वयं भी न करें—पंक्ति भेद न होने दे। इस प्रकार कपट रहित होकर जो अतिथि की सेवा करते हैं, उनको धन, यश, दीर्घायु और स्वर्ग प्राप्त होता है।

अतिथिसेवा करते समय जात-पात का भी भेद नहीं रखना चाहिए। जो कोई आ जावे, परन्तु पाखंडी साधु न हो, उसका सत्कार करना चाहिए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—चाहे चांडाल भी हो, उस पर दया कर के भोजन इत्यादि देना मनुष्य का परम पवित्र कर्त्तव्य है। मनुजी कहते हैं —

वैश्य शूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ ।

भोजनेत्सहभृत्यैस्त्वावानृशस्य प्रयोजनम् ॥

मनु०

अर्थात् अतिथिधर्म से यदि वैश्य-शूद्रादि तक कुटुम्ब में आ जावें तो उनपर भी दया करके, भृत्यों-सहित, भोजन करा देंगे।

अतिथियज्ञ केवल भोजन से ही समाप्त नहीं होती है, किन्तु शाल में उसकी पाँच प्रकार की दक्षिणा भी बतलाई गई है। यह दक्षिणा जब तक न देवे, तब तक अतिथियज्ञ पूर्ण नहीं हो सकता ।—

अधुरेवागमनोदवाहार्त्त एवाथ सुदर्भ ।

अनुजमेदुपसीत छ पक्कः पंचदक्षिणाः ॥

अतिथि जब तक अपने घर में रहे, उसकी ओर प्रेम और आत्मन्त्रपूर्ण दृष्टि से देखे, उसकी सेवा में पूरा पूरा मन लगावे सुन्दर और सत्य बाणी बोलकर उसको आशान्वित करे, अपने समानाग से उसको पूर्ण सुख देने का प्रयत्न करे, और जब वह चला जाने लगे तब घोड़ी वृत्त उसके पीछे पीछे बोलकर उसको प्रसन्न करे ।

प्रायश्चित्त और शुद्धि

मनुष्य की प्रकृति स्वामासिक ही कमज़ोर होती है ; और वह अनेक सांसारिक प्रसङ्गों में आकर, अज्ञानपूर्वक, अपना बिना जाने, गलत प्रकार के पाप करता है। पाप कर्मों का फल उसको प्रत्यक्ष रूप से अपना-अपनापन रूप से अवश्य ही भोगना पड़ता है। जैसा कि कहा है—

अन्यथेव योऽप्यर्थं कृतं कर्म ह्यवाहमम् ।

परन्तु जो पाप हो चुका है, उस प्रकार के पापों में फिर मनुष्य न कैसे इसस्मिय शालों में अनेक प्रकार के पापों के छिपे अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त बतलावे यदि है, और हिन्दूधर्म का विचार है कि उन प्रायश्चित्तों के कर देने से किसी हुए पापों का

मोचन हो जाता है। और सचमुच ही पाप-कर्म का फल जो दुःखभोग है, वह जप, तप, व्रत इत्यादि के द्वारा स्वयं अपने ऊपर ले लेने से—प्रायश्चित्त कर लेने से—पूर्ण हो जाता है, और मनुष्य आगेके लिए शुद्ध हो जाता है। अस्तु। पाप अनेक हैं, परन्तु उनमें सब से बड़े पाप मनुजी ने इस प्रकार बतलाये हैं —

ब्रह्महत्या सुरापान स्तेयं गुर्वगनागमः ।

महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥

मनु०

ब्राह्मणों और सज्जनों की हत्या, मदिरा पीना, चोरी करना, किसी माननीय गुरु की स्त्री, अथवा अन्य किसी दूसरे की स्त्री से व्यभिचार करना, ये बड़े भारी पाप हैं। और इन बातों से संसर्ग रखना भी एक बड़ा भारी पाप है।

इसका साराश यही है कि, हत्या, मदिरापान, चोरी और व्यभिचार तथा इन पापों के करनेवाले मनुष्यों का संसर्ग, ये पाँच बड़े भारी पातक हैं। इन पातकों तथा इसी प्रकार के अन्य भी सैकड़ों छोटे-मोटे पातकों के अनेक प्रायश्चित्त—व्रत, उपवास, जप-तप इत्यादि के रूप में मनुस्मृति, इत्यादि स्मृतिग्रन्थों में लिखे हुए हैं। मनुस्मृति के ग्यारहवें अध्याय में अनेक प्रायश्चित्तों का वर्णन करने के बाद मनुजी ने लिखा है :—

ख्यापने नानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च ।

पापकृन्मुच्यते पापाक्षया दानेन चापदि ॥

यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते ।

तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाऽधर्मेण मुच्यते ॥

यथा यथा मनस्त्वस्य दुष्कृतं कर्मगर्हति ।

मुच्यते ॥

कृत्वा पार्श्वं हि संतप्य तन्मात्पाचयामुच्यते ।
 नैवं कुर्म्यं पुनरिति विदुः कृत्वा कृते तु वा ॥
 एवं संकल्प्य नमसा प्रेत्यर्च्यमग्नेरप्यम् ।
 मन्त्रोवाहं मूर्तिभिर्विधुमं कर्म समाचरेत् ॥
 भक्ष्याद्यपि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम् ।
 तन्मात्रिदुष्टमग्निवज्रं द्वितीयं च समाचरेत् ॥

श्रु अ० ११

इसका अर्थ यह है कि जिस किसी से कोई पाप हो जावे वह अपने उस पाप को दूसरों पर प्रकट करे, पदवात्ताप करे, तप करे, वेद-शास्त्र का अध्ययन करे, तो उसका पाप क्षुद्र आपस्य और यदि इन बातों में से कोई भी न कर सके, तो श्राव करके भी वह पाप से क्षुद्र सक्ता है। अपने किये हुए अधर्म का ज्यों-ज्यों मनुष्य दूसरों से कहता है, त्यों त्यों वह उस अधर्म से छूटता जाता है। जैसे साँप बेंबुड़ी से। ज्यों ज्यों उसका मग अपने किये हुए दुष्कावों की निन्दा करता है, त्यों त्यों उसका शरीर उस अधर्म से छूटता है। मनुष्य जो पाप करता है, उस पर ज्यों ज्यों वह अपने मन में अपने ही अपर क्रोध करता है अपना मन ही मन अपने उस पाप पर दुखी होता है, त्यों त्यों वह उस पाप से बहता है, और फिर जब वह प्रतिया करता है कि, "अब ऐसा पाप न कहाँ गा" तब वह, उस पापनिवृत्ति के कारण, मुक्त हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य को चाहिए कि वह बार बार अपने मन में सोचता रहे कि मैं इस जन्म में जो कर्म कहाँ गा उसका फल मुझे अगले जन्म में भी मिलेगा, और यह सोचकर वह मग, बाकी शरीर से सर्वत्र शुभ कर्म करता रहे। पार्श्व से अपने आपकी कबाबे रखे। सब तो यह है कि अज्ञान अपना ज्ञान से जो कोई निन्दित

कर्म मनुष्य से हो जावे; और वह उस पापकर्म से छूटना चाहे, तो फिर दुबारा उसको न करे।

यही भगवान् मनु के उपर्युक्त श्लोकों का अर्थ है। आज-कल हिन्दू धर्म के लिए कोई राजनियम अथवा समाजनियम न होने के कारण प्रायश्चित्तों का प्रायः लोप हो गया है। चोरी, जुआ, मिथ्याभाषण, व्यभिचार, मद्यपान, हत्या, इत्यादि पापों का तो साम्राज्य है। इन पापोंको करते-कराते हुए आज न तो कोई प्रायश्चित्त करता है, और न समाज ही इनके लिए कोई प्रायश्चित्त कराता है। ये मनुजी के गिनाये हुए महापातक हैं; परन्तु महापातकों का आज कोई प्रायश्चित्त नहीं है। इसी से यह धर्मक्षेत्र भारतवर्ष आज अधर्म का क्रीड़ाक्षेत्र बना हुआ है। हाँ, जो पातक ससर्गजन्य हैं, उनको आजकल बहुत महत्व दिया जा रहा है। जैसे कोई सज्जन यदि विदेशयात्रा करे, तो उसका यह कार्य प्रायश्चित्त के योग्य समझा जाता है। अन्य कुछ पातक हिन्दूसमाज ने इस प्रकार के भी मान रखे हैं, जिनका कोई प्रायश्चित्त ही नहीं है। जैसे, कोई अपने हिन्दूधर्म से वर्मान्तर कर के ईसाई या मुसलमान हो जावे, तो हिन्दूसमाज इसका कोई प्रायश्चित्त ही नहीं मानता। फिर चाहे वह विधर्मियों के छल के कारण, बलात्कार के कारण, अथवा भूखों मरने के कारण ही विधर्म में क्यों न गया हो, हिन्दूसमाज में उसके लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं है। इसी कारण से इस पवित्र भारतवर्ष में गोभक्षियों की संख्या करोड़ों तक पहुँच गई है। जो लोग हिन्दूधर्म में रहकर गोरक्षक थे, आज अपने समाज की कमजोरी के कारण, करोड़ों की संख्या में गोभक्षक हो रहे हैं। क्या यह हमारे धर्म की कमजोरी है, अथवा समाज की निर्यलता है? हम तो यही कहेंगे कि यह हमारे हिन्दू

कर्म की कमजोरी नहीं है। हिन्दूधर्म एक बहुत ही व्यापक धर्म है, उसमें प्रायश्चित्त की विधि पापों के क्षादन के लिए ही रखी गई है। ऐसा कोई बड़ा से बड़ा पाप भी नहीं है कि, जो हिन्दूधर्म की अछिस्तुत्य पवित्रता में भस्म न होजाय, श्रीमद्भगवत्पुराण में लिखा है :—

किराकृत्वात्प्रपुच्छिन्व पुनश्च ।
 वापीरक्षंकापयता कदाचन ।
 केचन च वापा कुरात्प्रपुच्छता ।
 ह्यप्यग्नौ कर्मे प्रपुच्छन्ते यथा ॥
 श्रीमद्भगवत्पुराण

जिस ईश्वरीय धर्म का आश्रय करने से किरात, पुनश्च, पुच्छिन्व, पुच्छत, वापीर, कंका यवन, कदा, कदाचि भगवत्प्रीति पापी लोग भुक्त होते हैं, उस परम पवित्र धर्म को नमस्कार है।

और, सब तो यह है कि इस प्रकार की भगवत्प्रीति भी भावों से ही उत्पन्न हुई है। ये भगवत्प्रीति भगवत्प्रीति किस प्रकार बन गई इसका कारण भगवत्प्रीति इस प्रकार बतलाते हैं :—

कल्पेत्तु मित्राकोपाहिताः क्षत्रियमात्मनः ।
 कृत्वात्तं गता कोणे आश्रयापुच्छिन्व च ॥
 पौष्पकाश्चोद्भूयिष्याः कर्मजोहा कदाचन कदा ।
 पापान्कदाचनपीता किराकृत्वा कदा ॥

यस्य च १

ये भगवत्प्रीति पाहैं क्षत्रिय भी। जब इनके धर्म-धर्म छोड़ हो गये, भारतवर्ष के बाहर, दूर-दूर के देशों में चले गये। और वहाँ इनको आश्रय, आश्रय और प्रायश्चित्त के लिए चित्त, उत्पत्ति आश्रय न मिलने लगे, तब धर्म धर्म भगवत्प्रीति

हो गईं। वे जातिया कौन सी हैं ? उनमें से मनु जी ने निम्न-लिखित जातियां गिनाई हैं—पौण्ड्रक, औड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, अपल्लव, चीन, किरात, दरद और खश।

जब भारतवर्ष को छोड़कर, अथवा भारतवर्ष में ही, इन जातियों ने अपने कर्मधर्म छोड़ दिये, और ब्राह्मणों के दर्शन इनको न होने लगे, ब्राह्मण लोगों ने भी इनको छोड़ दिया, अथवा इनसे घृणा करने लगे, तब ये बेचारे वृषलत्व को प्राप्त हो गये। ब्राह्मणों के अवर्शन के कारण जब इनकी यह दुर्गति हुई है, तब क्या ब्राह्मणों के दर्शन से फिर इनकी सदुत्पत्ति नहीं हो सकती ?

म्लेच्छ अथवा मुसलमानों की तरह अन्य जो मलीन जातिया हैं, उनकी उत्पत्ति तो हमारे पुराण-ग्रन्थों में बड़ी विचित्र रीति से बतलाई गई है। मत्स्यपुराण में लिखा है—

ममन्युब्राह्मणास्तस्य बलाद्देहमकल्मषा ।

तत्कायात् मध्यमानात्तु निपेतुर्म्लेच्छजातयः ॥

शरीरे मातुरंशेन कृष्णाजनसमप्रभाः ।

मत्स्यपुराण, अ० १०

उस राजा वेन के शरीर का पवित्र ब्राह्मणों ने मन्थन किया, और उस मन्थन के कारण, माता के अंश से, उस राजा के शरीर से, ये म्लेच्छ जातिया उत्पन्न हुईं। काले अंजन के समान चमकीला इनका वर्ण था।

श्रीमदुद्भागवत के चौथे स्कंध में भी म्लेच्छ जातियों की उत्पत्ति इसी प्रकार से बतलाई गई है। इससे मालूम होता है कि आर्य क्षत्रिय राजाओं से ही इनकी उत्पत्ति है। आज तो

इन जातियोंके भीर भी उन्नति कर रही है। इनके रंग हंय, बाल-
हाल में बहुत कुछ सम्यता दिखाई देती है। जास कर भारतीय
मुसलमानों का रक्त-सम्बन्ध सैकड़ों वर्ष से भारत के भाषों से
है, भीर इनमें बहुत कुछ भार्यत्व है। भारतीय ईसाई जातियाँ
तो अभी बहुत थोड़े दिन से भार्यव्युत हुई हैं। मस्यब इनमें
कुछ भीर भी विशेष सम्यता दिखाई देती है। यदि भारतवर्ष
के तपस्वी विद्वान् ब्राह्मण लोग इन लोगों को बार बार अपने
दर्शन दिया करें, इनसे पूजा न करें, इनमें हिंसात्मक कर अपना
जिस तरह से हो सके, इनको भार्य या हिन्दू-धर्म में फिर से
भाबें तो यह कुछ अनुचित न होगा। जो अपना मंग है, उसको
अपने भक्त में लेने से संकोच क्यों करना चाहिए ?

यह हमारा भय जो हमसे भयान हो गया है, हमारी
जापरवाही के कारण हुआ है। हमने इनको प्रेषित सम्मान,
इनको दूर दूर किया—ये हमसे इतनी दूर हो गये कि जिसका
कुछ ठिकाना नहीं। अब यदि हम फिर इनको गले से लगावें तो
तैयार हों तो ये फिर, हमारा भय वाकट, हमसे मिळ सकेंगे
हैं। माठ-नी करोड़ ईसाई-मुसलमानों में से अधिकतर लोग
येस ही हैं कि जिससे हमल पूजा की, भीर है हमसे भयान
हो गये। कुछ दुष्काळ बाढ़ों मूकों मरने के कारण हम से
भयान हुए। हमने उनके दुःखों का कबोबस्त नहीं किया। अपने
ही हिन्दुधारायाममें मस्त रहे। कुछ बलात्कार अथवा बहकावे में
आकर भयानता के कारण, हमसे भयान हुए, क्योंकि हमने
उनकी रक्षा नहीं की। उनको जापरवाही से छोड़ दिया। यदि
अब हम फिर अपनी तपस्युक्त जापरवाहियोंको सुधार दें, भीर
जो माठ नी करोड़ हम से भयान हो गये हैं, उनसे पूजा छोड़
कर भय सम्बन्ध स्थापित करें, तो यह दुःखद्वी का दण्ड, जो

अपने गोत का ही काल हो रहा है, फिर से अपने गोतकी रक्षा करने लगेगा ।

इतनी उदारता हमारे धर्म में है ; परन्तु आवश्यकता यह है कि हम उदार बनें । हम ऊपर श्रीमद्भागवत का प्रमाण देकर लिख चुके हैं कि हमारे धर्म में वह शक्ति है, वह उदारता है कि वह बड़े बड़े पतितों को पावन कर सकता है । और आज के पहले हजारों वर्ण का हमारा इतिहास भी साक्षी देता है कि आर्यों के व्यतिरिक्त अन्य आर्येतर स्लेच्छ इत्यादि जातियों को हमने प्रायश्चित से शुद्ध किया है । सब से पहले अत्यन्त प्राचीन तंत्र-ग्रन्थोंका प्रमाण लीजिए । तान्त्रिक लोग बड़े कट्टर हिन्दू थे । “महानिर्वाणतंत्र” में लिखा है —

अहो पुण्यतमा कौला तीर्थरूपा स्वयं प्रिये ।

ये पुनन्त्यात्मसम्बन्धान् स्लेच्छंश्चपचामरान् ॥

महानिर्वाणतंत्र

अहा ! ये तान्त्रिक लोग कितने पवित्र और पुण्यशील हैं कि, जो स्लेच्छ, श्वपच, इत्यादि परम पापी लोगों को भी अपने में मिलाकर शुद्ध कर लेते हैं । इसके बाद तान्त्रिक सम्प्रदाय की पवित्रता प्रकट करते हुए कहा गया है :—

गंगाया पविताम्भांसि यान्ति गागेयता यथा ।

कुलाचारे विशन्तोऽपि सर्वे गच्छन्ति कौलताम् ॥

महानिर्वाणतंत्र

जिस प्रकार गंगामें मिला हुआ जल, चाहे जैसा अपवित्र हो, वह पवित्र गंगाजल हो जाता है, उसी प्रकार चाहे जैसे अपवित्र धर्मवाला मनुष्य हो, तान्त्रिक लोगों में मिलकर तान्त्रिक ही हो जाता है ।

यह तो सांख्यिक लोगों का उदाहरण हुआ। इसके सिवाय हिन्दूधर्म के प्रबल रक्षक छत्रपति शिवाजी महाराज और गुप्त बालक इत्यादि के समय में भी विधर्मियों को प्रायश्चित्त-ज्ञाप शुद्ध करने की प्रथा थी। प्रायश्चित्त भी समय समय के मनु सार अधिन्यास में बतलाये हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी स्मृति में कहते हैं —

रात्रे विवाहे चर्षे च क्षयमे देवविष्णवे ।

जात्यग्नि च अष्टाश्वि वृष्यशौचं विधीयते ॥

याज्ञवल्क्यस्मृति, अ ३

मर्यात् क्षत्र में विवाहमें यज्ञमें संसारा में, देवविष्णव में कर दायक आपत्ति के समय सप्तशौच का विधान है। जैसे ब्राह्मण का समय है। यह हमारे देवके विष्णव का समय है, और हमारी जाति पर एक प्रकार से पड़ी मारी आपत्ति भाई हुई है। इस समय शुद्धि के लिए भी हमको कठोर प्रायश्चित्तों के व्यवहार करने की आवश्यकता नहीं है। इस समय तो हमको यही देखना चाहिए कि हमारे धर्म की कोई भी अपवादा पुरुष, किसी भी कारण विशेष से परधर्म में बसा गया है, तो उसका वहां से छुटकाया करके, उसको 'सप्तशौच' का प्रायश्चित्त करा कर तुल्य उसको शुद्ध कर लेना चाहिए। हाँ महर्षि मनु के कथनानुसार उसको अपने कार्य पर पश्चात्ताप अवश्य होना चाहिए कि हमने अपना काम छोड़कर बहुत बुरा कार्य किया। और पश्चात्ताप जब हम से ऐसा कामी न कराये। परन्तु यह पश्चात्ताप का प्रायश्चित्तभी जब लोगों के लिए है कि जो जन्म-मृत्युकर स्वधर्म का त्याग करते हैं, परन्तु जो पश्चात्ताप से, सबका बखलाकार से स्वधर्म छोड़ने के लिए बाध्य किये जाते हैं, वे तो

अत्यन्त दयाके पात्र हैं। उनकी शुद्धि करनेके लिये प्रायश्चित्त की भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि उनका मन स्वधर्मके विषय में कभी अशुद्ध नहीं हुआ था। बालकों और स्त्रियोंके उदाहरण इसी प्रकार के हैं। स्त्रियों को तो मनु महाराज ने सर्वथा शुद्ध माना है, और नीच कुल से भी शीलवती स्त्री को धर्म पूर्वक ग्रहण करनेकी आज्ञा दी है —

श्रद्धधानः शुभा विद्यामाददीतावरादपि ।

अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सभाषितम् ।

अग्निघ्नादपि सद्रवृत्तमेयध्यादपि काचनम् ॥

स्त्रियोरत्नान्ययो विद्याधर्मः शौचं सभाषितम् ।

विविघ्नानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥

मनु० अ० २

अर्थात् उत्तम विद्या नीचके पास हो, तो भी उसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर लेना चाहिये। उत्तम धर्म शूद्र से भी श्रद्धापूर्वक ग्रहण करना चाहिए; और स्त्रीरत्न चाहे बुरे कुल में भी हो, तो भी उसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण करना चाहिए। विष से भी अमृत ले लेना चाहिए। बालक के भी शिक्षादायक वचन ग्राह्य हैं। अच्छा चालचलन यदि शत्रु में भी हो तो उसे लेना चाहिए। सुवर्ण नापाक जगह से भी उठा लेना चाहिए। इस प्रकार स्त्री, रत्न, विद्या, धर्म, पवित्रता, अच्छे वचन, और अनेक प्रकार की शिल्पविद्या सब जगह से, जहा मिले, वहीं से ले लेना चाहिए।

मनु महाराज के इन वचनों से स्पष्ट है कि स्त्री, चाहे जितने नीच कुल में हो; परन्तु यदि वह स्वैरिणी व्यभिचारिणी नहीं है, तो उसे अवश्य ग्रहण कर लेना चाहिए। परन्तु उसे धर्मपूर्वक ग्रहण करना चाहिए। अधर्म से नहीं। धर्मपूर्वक

विषमों सर्वा को भी ग्रहण करके हम अपने पवित्र भावरूप के संसर्ग से उसे धर्मात्मा बना सकते हैं। तब भीर सदाचार में बहुत बढ़ी शक्ति है। महर्षि पराशरने राजा जय द से कहा है—
 राजन्वैतद्वत्तु शास्त्रमग्नयेन जम्बवा ।

महात्मनो मनुष्यसिः तस्या धाक्वित्त्वयम् ॥

महाभारत, धार्मिकार्थ ४ २११

अर्थात् हे राजन्, नीच कुछ में जम्ब पाने पर भी तप से उज्ज्वल प्राप्त हो सकता है। कई लोग कहेंगे कि यह सतपुत्र की बात है। भावकन्त ऐसा नहीं हो सकता। परन्तु ऐसी बात नहीं है, तब भीर भीर्य का प्रभाव सदा-सर्वदा वैसा ही रहता है। महर्षि मनु कहते हैं —

ज्योतीर प्रमावेत्तु ते पञ्चमि पुं कुं ।

वरुणं वाक्वरं च मनुष्येभिरुज्जमल ॥

मनु ४ १ । ४२

अर्थात् तप्यमान से भीर बीजप्रमाण से पत्येक पुत्र में मनुष्य जम्ब की उज्ज्वलता और नीचता को प्राप्त होते हैं।

सापेक्ष यह है कि जिस प्रकार से तपस्वी विद्वान् प्रकाश अपने संसर्ग से नीच कुछ की विषमों की को भी पवित्र कर सकता है, वसी प्रकार वह अपने भीर्य से उसके द्वारा उज्ज्वल कुछ की सन्तति भी उत्पन्न कर सकता है। इस विषय में मनुजी ने एक जगह भीर भी कहा है :—

आद्योवाचोमवाचोवाचोवाचो नमस्तुभ्ये ।

मनु ४ १ ।

अर्थात् भगार्थ जी में भार्य पुरुष से उत्पन्न हुआ पुत्र गुणों से भार्य ही होगा। भीर्यप्रमाण समझ ही रहता है। ऐसी दशा में

आर्य (हिन्दू) लोगों को अनार्य (आर्येतर) जाति की स्त्रियों को ग्रहण करने में अब कोई लज्जा या संकोच न करना चाहिए। हम लोगों को मनु इत्यादि अपने शास्त्रकारों की आज्ञा के अनुकूल आचरण करना चाहिए।

इसी प्रकार विधर्मों वालकों को भी हम ग्रहण कर के अपने धर्म में मिला सकते हैं। जो दूसरे धर्म के वालक हैं, अथवा अपने धर्म से अभी हाल में पतित होकर द्रात्य हो गये हैं, उनको हम फिर व्यवहार्य बना सकते हैं। पारस्कर गृह्यसूत्र का वचन है —

तेषा संस्कारेणसवो द्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा काममधीयीन् । व्यवहार्यो भवतीव धवनात् ॥ ४३ ॥

पारस्कर गृह्यसूत्रम् २ । ५

जो वालक पतित हो गये हैं, उनको द्रात्यस्तोमयज्ञ करा कर हम अध्ययन इत्यादि में लगाकर व्यवहार्य बना सकते हैं। परन्तु इस समय तो देश के ऊपर महा भयकर अनिष्ट आया हुआ है, इसलिए महर्षि याज्ञवल्क्य की व्यवस्था के अनुसार सिर्फ “सद्य शौच” ही एक बड़ा भारी साधन है। यज्ञ इत्यादि की भ्रष्ट इस समय नहीं हो सकती। याज्ञवल्क्यस्मृति में शुद्धि के साधन और भी एक जगह लिखे हुए हैं। इनके अनुसार आचरण करना चाहिए —

कालोऽग्निः कर्म मृदु वायुः मनो ज्ञान तपो जलम् ।

पश्चात्तापो निराहार सर्वेऽग्नी शुद्धिहेतवः ॥

याज्ञवल्क्यस्मृति, अ० ३

अर्थात् काल, अग्नि, कर्म, मिट्टी, वायु, मन, ज्ञान, तप, जल, पश्चात्ताप, निराहार, ये सब शुद्धि के साधन हैं।

मठस्थ यह है कि जिसकी शुद्धि करनी हो, उसको उसकी शक्ति के अनुसार निराहार प्रदत्त करना सकते हैं। पञ्चाशत उसको स्वयं ही होगा, और यदि उसको पूर्ण पञ्चाशत है, तो फिर मनुष्यीके अनुसार उसको दूसरे साधन की आवश्यकता ही नहीं। जल, गङ्गाजल इत्यादि छिड़ककर भक्षण नहलाकर शुद्ध कर सकते हैं। शक्ति-अनुसार सप का विधान कर सकते हैं। विद्याभ्यास इत्यादि कराकर उसको ज्ञान दे सकते हैं। मल पञ्चाशत से स्वयं ही शुद्ध होगा। शुद्ध पवित्र तीर्थस्थान की वायु, मिट्टी बाहुका इत्यादि का देश-काल के अनुसार उपयोग कर सकते हैं। अभ्यास के द्वारा उसके कर्म या आचरण बदल सकते हैं। मन्त्रि-युजा हवन इत्यादि उससे कर सकते हैं। काल, समयानुसार वह स्वयं शुद्ध हो सकता है, चाहे और कोई साधन न किये जायें इत्यादि। सारांश यही है कि शुद्धि के लिए देशकालानुसार प्रापञ्चित करना भ्रमियों को सम्मत है।

यह प्रापञ्चित और शुद्धि का वर्णन किया गया। उसको विशेषपूर्वक इस पर आचरण करना चाहिए।

अहिंसा

मन, वचन, कर्म से किसी निरपराध प्राणी को कष्ट देना हिंसा कहलाता है, और इसके विपरीत कर्म को अहिंसा समझना चाहिए —

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।

अनुग्रहश्च दानं च सर्वं धर्मं सनातनम् ॥

महानारत, वनपर्व

मन, वचन, कर्म से सब प्राणियों के साथ अद्रोह अर्थात् मैत्री रखना, उन पर दया करना और उनको सब प्रकार सुख देना—यही सज्जनों का सनातन धर्म है। इसी को “परम धर्म अहिंसा” कहना चाहिए ।

जो मनुष्य दूसरों को वाणी से कष्ट पहुँचाते हैं, अर्थात् किसी की निन्दा, चुगली करते हैं, अथवा कठोर वचन बोलते हैं, वे मानो वाणी से हिंसा का आचरण करते हैं। जो मन से किसी का अकल्याण चाहते हैं, मत्सर करने हैं, वे मन से हिंसा करते हैं, और जो हाथ से किसी को मारते हैं अथवा वध करते हैं वे कर्म से हिंसा करते हैं। यह तीनों प्रकार की हिंसा त्याज्य है। हिंसा से मनुष्य में क्रूरता आती है, उसके मन के सद्भाव नष्ट होते हैं, पाप बढ़ता है, और उसको इस लोक तथा परलोक में शान्ति नहीं मिलती। इसके विरुद्ध जो सब पर दया रखता है, किसी को कष्ट नहीं देता, वह स्वयं भी सुखी रहता है —

अष्टम्य सर्वभूतानामायुष्मान्नीदत्र सुप्ती ।

भवन्यमक्षयन्मासं दयावान् प्राणिनामिहि ॥

महामारत, अनुशासनपर्व

जो सब प्राणियों पर दया करता है, और मांसमसृज कभी नहीं करता वह किसी प्राणी से स्वयं भी नहीं डरता दीर्घायु होता है, भारोग्र होता है, और सुखी होता है। मनुष्य मनुष्य तो यहां तक कहते हैं कि—

यो कल्पवृक्षस्तथैवाप्राणिनां च निर्भीरवः ।
 स सर्वस्वहितोऽप्येष सत्त्वमयः सत्त्वमयः ॥
 बहुधापि कल्पते इति कल्पति यत्र च ।
 कदाप्येतत्कल्पेन यो हितं न कल्पेन ॥

मनु अ १

जो मनुष्य किसी भी प्राणी को कल्प या वृक्ष इत्यादि किसी प्रकार से भी कष्ट देना नहीं चाहता वह सब का हितकाम्य मनुष्य सुख को प्राप्त होता है। ऐसा मनुष्य जो कुछ है जो कुछ करता है, और जिस कार्य में धैर्य से व्यस्त होता है सब में उसको सहायता ही सफलता होती है। क्योंकि वह किसी प्राणी को भी कभी किसी प्रकार कष्ट देने की इच्छा ही नहीं करता तब फिर उसको कष्ट क्यों होगा? सब प्राणियों पर वह प्रेम करता है, सब प्राणी उस पर प्रेम करते हैं, और सब प्राणियों का स्वामी परमात्मा भी उस पर प्रसन्न रहता है। ऐसी दशा में उसको सिद्धि धरी-भराई है। वह सब जीव परमात्मा के ही समझता है, अपने सुख के लिए किसी पर मेढ़ मान नहीं रखता और न किसी को निर्दयता से मारता है। किसी कवि ने कहा है :—

दया कोष पर कीर्ति, का कर निर्दय होय ।
 काई ने सब जीव हैं, कोरो कंजर दोष ॥

जिस पर दया करें, और जिस पर निर्दय हों सब जीव

परमात्मा के हैं—चाहे चीटी हो, और चाहे हाथी। जब ऐसी दशा है, तब अपने उदर की पूर्ति के लिए—मांस-भक्षण के लिए—जीवोंकी हत्या करना कितना बड़ा पाप है। ऐसे मनुष्यों को सुख कभी नहीं मिल सकता.—

योर्गहिसकानि भूतानि दिनस्त्यात्मछवेच्छया ।

स जीवश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥

मनु०, अ० ५

जो अहिंसक अर्थात् निरपराध प्राणियों को अपने सुख के लिए कष्ट देता, अथवा उनका नध करता है, वह न इस जन्म में जीवित रहते हुए, और न मरने पर ही, सुख को पा सकता है।

कई मांसभक्षी लोग कहते हैं कि, हम स्वयं नहीं मारते हैं—हम तो सिर्फ दूसरे का मारा हुआ मांस खाते हैं, हमको कोई दोष नहीं लग सकता, परन्तु ऐसे लोगों को विचार करना चाहिए कि यदि वे लोग मांस खाना छोड़ दें, तो जीवों के मारने की कोई आवश्यकता ही न रहे। वास्तव में मारनेवाले से खानेवाले को ही अधिक पाप लगता है। मनु महाराज ने आठ घातक माने हैं —

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।

सत्स्करता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातक ॥

मनु० अ० ५

१ जिसकी सम्मति से मारते हैं, २ जो अगों को काटकर अलग अलग करता है, ३ जो मारता है, ४ जो खरीदता है, ५ जो बेचता है, ६ जो पकाता है, ७ परोसता है, और ८ जो खाता है—ये आठो घातक हैं। इन सब को हत्याका पाप लगता है। सब से अधिक खानेवाले को लगता है, क्योंकि उसी के कारण ये सब क्रियायें

मांसमक्षण में दोष क्यों है ? क्योंकि इससे दया की हानि है। जिस प्राणी का मांस हम खाते हैं, उसको कष्ट देकर हम अपने बदन की पूर्ति कर रहे हैं। जब हमारे उदर की पूर्ति, किसी जीव की हत्या किये बिना ही अन्य पदार्थों से हो सकती है तब किसी को मारने की क्या आवश्यकता, क्यों कि जीव को मारते समय जो कष्ट होता है, वैसा कष्ट और कमी नहीं होता। अपना जीव सब का प्यारा होता है। जैसा अपना जीव सम्भाला चाहिये वैसा ही दूसरे का भी सम्भाला चाहिये, क्योंकि प्राण-धारण में सुख और प्राणत्याग के समय दुःख सब जीवों को बराबर ही होता है। जो लोग दूसरे का गला काटकर मथवा कटवाकर मांस खाते हैं, वे कमी नहीं चाहेंगे कि कोई उनका गला काटकर मथवा कटवाकर खा जाय। जैसा अपना सुखदुःख, वैसा ही अन्य प्राणियों का भी सुख-दुःख सम्भाला चाहिये :—

प्राण्य क्वात्मनोऽभीष्टा क्षुधावामपि वै क्वा ।

आत्मैक्यमेव मनुजैर्बुद्धियदस्मि क्वात्मनिः न

महामारुह, अनुष्टुप्चत्वार्ष

जिस प्रकार हमको अपने प्राण प्यारे हैं, वैसी ही अन्य प्राणियों को भी अपने प्राण प्यारे हैं। इसलिये बुद्धिमान और विचारशील मनुष्यों को अपने ही समान सब का सम्भाला चाहिये :—

यद्यपि क्षुद्यानि कष्टे एवम् यद्यपि दुःखम् नृपं मनुते ।

तेनो धनोत्पादयमाच्छेदं कुर्यान्व कर्तुमि हि न शक्यम् ॥

सभी प्राणी सुख से सुखी और दुःखग्रस्त भय से कष्टित होते हैं, इस लिये ऐसा कोई कार्य न करना चाहिये कि जिससे

प्राणियों को भयजन्य दुःख हो। साराश यह है कि मास भक्षण से प्राणियों को कष्ट होता है; और कष्ट किसी के लिए भी अभीष्ट नहीं है। इसी लिए मास भक्षण दोष है —

समुत्पत्तिं च मासस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ।

प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमासस्य भक्षणात् ॥

मनु०, अ० ५

प्राणियों के वध और बन्ध से मास की उत्पत्ति देखकर—
अर्थात् उनपर दया करके—सब प्रकार के मासभक्षण से बचना चाहिए। पुनश्च :—

न हि मांसं तृणात्काष्ठादुपलाद्वाऽपि जायते ।

इत्वा जन्तु ततो मांसं वस्मादोपस्तु भक्षणे ॥

मास तृण, काठ अथवा पत्थर से उत्पन्न नहीं होता, जीवों के मारने से मिलता है; और इसी लिए इसके भक्षणमें दोष है।

कई लोग यज्ञ के नाम पर अथवा देवी-देवताओं के नाम पर निरपराध पशुओं का बलिदान करके मास का सेवन करते हैं; और इसको धर्म समझते हैं। यह और भी बड़ा भारी पाप है—अर्थात् मासभक्षण के दोष को छिपाने के लिए ये लोग ऊपर से धर्म का आवरण चढ़ाते हैं। ऐसे पापियों के लिए कूर्मपुराण में कहा है —

प्राणिघाताच्च यो धर्ममीदृशे मूढमानस ।

स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाहिमुखकोटरात् ॥

कूर्मपुराण ।

अर्थात् जो मूढ मनुष्य प्राणियों का वध करके धर्म की इच्छा करते हैं, वे मानो काले सर्प के मुखकोटर से अमृत की वर्षा

चाहते हैं। मरे ! जहाँ जहर है, वहाँ से अमृत कैसे मिल सकता है ? जिसको सब शास्त्रों में अधर्म माना है, वहाँ से धर्म कैसे प्राप्त हो सकता है। चाहे कोई भी धर्म हो, महिम्ना को सभी जगह धर्मशास्त्रकारों ने प्रतिष्ठित किया है —

सर्वधर्मोत्तमहिंसा हि धर्मात्मा मधुरास्वीत् ।

सामकाराद्विद्विष्यन्ति बहिर्वेषां पञ्चमरा ॥

महाभारत, मोक्षसर्ग ।

धर्मात्मा मनु ने सब धर्म-धर्मों में महिम्ना ही की जायदा की है, परन्तु जोग भयनी इच्छा से शास्त्रविद्वत्, यह की बेबी (भयवा बेबी-देवताओं) पर पशुर्मा की हिंसा करते हैं ।

इससे सिद्ध है कि निरपराध और महिम्ना प्राणियों की करना सब प्रकार से निषिद्ध कर्म है। यह महिम्ना का एक अंग हुआ। इसके अतिरिक्त महिम्ना का एक वृत्त अंग भी है —

केवल हिंसा से निवृत्त रहने में ही महिम्ना पूरी नहीं होती, बल्कि यदि कोई हिंसा करता हो किसी वृत्तरे प्राणी को यदि कोई किसी प्रकार से भी छटाता हो, भयवा उसका बच करता हो तो उस पीड़ित प्राणी पर दया करना और उसका उस श्रम्याचार से बचना—यह महिम्ना का दूसरा अंग है। इसका नाम है—अमय-दान। अमयदान यहरे से सकता है जो स्वयं निर्मय हो, और वृत्तरे का पुनः वैषम्यर जिसके दिष्ट में दया का श्रोत धमक जाता हो—यही पूर्ण साधु का अस्तव है। आपणय मुनि ने कहा है —

धन्य विवेकशीलान् कृपा सर्वजन्तु ।

उत्तम ज्ञानेन मात्त्रेण किं आभ्यस्तयेत्यर्थः ॥

आनन्दसमीपि

पीडित प्राणियों की पीड़ा देखकर दयासे जिसका दिल द्रवीभूत हो जाता है, उसको ज्ञानसे, मोक्षसे, जटा बढानेसे और भस्म-लेपन इत्यादि से क्या काम ? वह तो स्वयंसिद्धि साधु है। किसी कविने इसी प्रकार के अहिंसाव्रती सत्पुरुष की प्रशंसा करते हुए लिखा है —

प्राणाना परिरक्षणाय सततं सथां क्रिया प्रणिनाम् ।

प्राणेभ्योऽप्यधिकं समस्तजगता नात्स्येद्य किंचित्प्रियम् ॥

पुण्यं तस्य न शक्यते गणयितुं यः पूर्णं कारुण्यवान् ।

प्राणानामभयं ददाति सकृत्ती येषामहिमावत ॥

ससार में सब प्राणियोंके, रात-दिन, जितने कार्य होते हैं, सब प्राणोंकी रक्षा के लिये ही होते हैं। प्राणोंसे अधिक ससार में और कोई भी चीज प्यारी नहीं है। ऐसी दशा में जिसके हृदय में पूर्ण दया बसती है, और जो सज्जन पुरुष, सदैव अहिंसाव्रत का धारण करते हुए, दूसरे प्राणियोंको, प्राणों का अभयदान दिया करते हैं, वही बड़े भारी पुण्यात्मा हैं—ऐसे सत्पुरुषों के पुण्यकी गणना नहीं की जा सकती।

अहिंसाके ये दोनों अङ्ग तो सब मनुष्योंके लिये सर्वसाधारण हैं, पर क्षत्रियोंके लिये एक प्रकारकी हिंसा भी बतलाई गई है, और उस हिंसा का पातक उनको नहीं लगता है। प्रजा की रक्षा करना क्षत्रियों का धर्म है। इसलिये यदि कोई हिंसक प्राणी, सिंह-व्याघ्रादि, जंगल से आकर बस्तीमें उपद्रव करते हों, अथवा जंगल में ही प्रजा को सताते हों, तो उनकी हिंसा करना वेदविहित है। अथवा कोई आततायी मनुष्य प्रजा को पीडित करते हों, तो उनका भी तत्काल वध करना चाहिए। आततायी मनुष्य कौन हैं, इस विषयमें मनु महाराज कहते हैं—

अग्निरो गरुडस्यैव चतुर्भुजाभिवाचता ।

कृत्वाप्यहस्तस्यैव पश्येत् शालदायिनि ।

मनु० अ० १

जो मनुष्य भाग सम्याकर वृक्षरैका घरदार भयवा केतकडिपान्ध
पूज्य होता है, किसी को जहर है होता है, हथियार लेकर किसी
को मारने दौड़ता है, जोरो-झकीती हथारिके द्वारा किसी का
घन सम्यहरण करता है, किसी का छीन लेत छेता है, भयवा
तीर्थक्षेत्रों और मन्दिर आदि धर्मक्षेत्रों को बध-बध करता है,
वृक्षरै की लीका हरण करता है, ये सब मारी दुष्ट माळानी
कहाते हैं । इनका भयवा इसी प्रकार के मन्त्र हिंसापूर्ण कर्म
करनाछे लोगों का लक्ष्य, किना सोचे बिनादे, बप करना
आदि—

भातदायिकमात्मानं हन्वाहपाणिपारणम् ।

मनु अ ८ श्लो ११

भातदायिकमे दोतो

मनु० अ ८ श्लो १११

इनको मारनेमें पाप नहीं है, क्योंकि ये हरण काय में भाकर
प्रजाकी हिंसा करना चाहते हैं । बहुतोंकी हिंसा कबाले के
छिये यदि एक की हिंसा करनी पड़े, तो यह वैदिकहित हिंसा
है, और इसी को वैदिकी हिंसा कहाते हैं—वैदिकी हिंसा
हिंसा न भवति—अर्थात् वैदिकहित हिंसा हिंसा नहीं है—
यह अहिंसा है—

वा वैदिकदिया हिंसा विन्यमिन्तराजः ।

अहिंसामेव वा विनाहंकारात्ते हि विवर्धे ॥

मनु० अ ८

अर्थात् इस जगत में जो वेदविहित हिंसा चराचर में नियत है, उसको अहिंसा ही जानना चाहिए, क्योंकि वेद धर्म का ही विधान करता है (अधर्म का नहीं)।

सारांश यह है कि दुष्ट और हिंसक प्राणियों से प्रजा की रक्षा करना क्षत्रियों का अत्यन्त महत्वपूर्ण अहिंसाधर्म है। यदि क्षत्रिय या राजा इस कार्य में प्रमाद करें, तो प्रजा को स्वयं बन्दोबस्त करना चाहिए।

अहिंसा का जो वर्णन ऊपर किया गया है, उसका आचरण करनेवाला मनुष्य ही पूर्ण धर्मात्मा है, क्योंकि अहिंसा परम धर्म है।

गोरक्षा

गोरक्षा हिन्दूधर्म का मुख्य अंग है। गौओं से ही हमारा धर्म और हमारा देश है। यदि हमारे देश और धर्मसे गौ अलग हो जाय, तो कुछ रह नहीं जाता। गौ से ही हमारा जीवन और हमारा प्राण है। ऋषियों ने कहा है —

गावो लक्ष्म्या सदा मूलं गोषु पाप्मा न विद्यते ।

गावो यज्ञस्य नेत्र्यो वै तथा यज्ञस्य ता मुखम् ॥

अर्थात् गौएं ही हमारी सारी सम्पत्ति की जड़ हैं, जहाँ गौ है, वहाँ पाप नहीं है, गौएं ही हमारे सब सत्कर्मों का कारण हैं, और सारे सत्कर्म गौओं में ही जाकर समाप्त हो जाते हैं। गौ यदि न हो तो हमारा कोई कार-व्यापार चल नहीं सकता, और गौओं से उत्पन्न किये हुए पदार्थ यदि हमारे पास न हों

तो हम कोई धर्म-कर्म नहीं कर सकते। हमारे सब सत्कार्य गौ से ही सिद्ध होते हैं। इसलिये गोरक्षा हिन्दूधर्म का प्राण है।

भाज-कल जब हम अपने देश की गौओं की रक्षा देखते हैं, तब हमारा कंठेजा बह निकल आता है। दिन पर दिन गोधन का नाश हो रहा है। पहले भारतवर्ष में गौओं की संख्या १२।१४ करोड़ तक थी, पर इस समय सिर्फ तीन करोड़ से कम रह गई है। दिन पर दिन गोधन का संहार हो रहा है। हाय! जिस देश के निवासियों का यह भार्गव था कि—

माधो मे भक्ता छन्द माधो मे छन्द हुआ।

माधो मे इसके छन्द गौ मध्ये ब्रह्मवदस् ॥

मौंसे हमारे भारी हाँ मौंसे हमारे पीछे हों। गौंसे हमारे हृदय में हों, और मौंसे ही के बीज में हमारा निवास हो—जिस देशके निवासी राजपूतगण एक एक गौ के छिपे अपना प्राण एक एक को तैयार हो जाते थे, और जिस देश में राजा विकीप के समान बलवर्ती राजा एक दिन पशुसे गौ की रक्षा करनेके लिये अपना शरीर देनेको तैयार हो गये थे जिस देश के राजा और ऋषि स्वयं जंगल जंगल भटककर गौधनका खजाना पसन्द करते थे उसी देश में हमारी माँको देखते कस्तूरिकाओं में सफ़ाई गौंसे रोज़ मारी जाती है, और हम गोरक्षा के लिये बिलकुल असमर्थ हो रहे हैं। यही हमारे अशक्तता का मुख्य कारण है। जिस दिन से गोरक्षियों को हमने अपने देश में लिया, उसी दिन से हमारा नाश प्रारम्भ हो गया। और आज हम स्वयं गौओं की समुचित रूप से रक्षा न करती हुए गोरक्षा में सहायक हो रहे हैं। परमपिता परमात्मा ने हम की भाँसा दे रखी है—

आरे ते गोघ्नसुत पूरुषघ्नम् ।

ऋग्वेद ।

गोहत्यारों और मनुष्य-हत्यारों को सदैव दूर रखो , पर हमने इस पर अमल नहीं किया , और उसी का कड़ुआ फल आज भोग रहे हैं , परन्तु अब भी अवसर है—अभी तीन करोड़ गोए हमारे देश में शेष हैं—इनकी रक्षा करके यदि हम चाहें, तो अपने देश और धर्म को रसातल जाने से बचा सकते हैं। इस लिए प्रत्येक हिन्दू को गौओं की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए ।

गोरक्षा हम किन किन साधनों से कर सकते हैं, यहा पर उनका वर्णन करने के लिए स्थान नहीं है । इस विषय पर देश में इस समय काफी चर्चा हो रही है । परन्तु यदि प्रत्येक हिन्दू पहिले की भांति गौ को बेचना पाप समझे, साड़ों के छोड़नेकी प्रणाली फिर से जारी की जाय ; और उन साड़ों की रक्षा का भी पूर्ण प्रबन्ध किया जाय, तथा गोवश के चरने के लिए जमीं-दार और राजा लोग अपनी कुल भूमि को छोड़ दिया करें, एव गोपालक लोग गौओं के रोगों का पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त कर के उनकी आरोग्यता बढ़ाते रहें, तो भारत में गौओं के वश की वृद्धि फिर भी हो सकती है । प्राचीन काल में हमारे देश के बड़े बड़े राजकुमार तक गोपालन-विद्या जानते थे । पांडवों ने जब राजा विराट के यहा अज्ञातवास स्वीकार किया था, तब धर्मराज युधिष्ठिर के सब से छोटे भाई राजकुमार सहदेव ने, महाराज विराटके यहा जाकर, तन्तिपाल के नामसे अपने गुणों का परिचय इस प्रकार दिया था —

क्षिप्रं च गावो बहुला भवन्ति न तासु रोगो भवतीह कश्चन ।

तैस्तैरुपायैर्विदितं ममैतद् एतानि शिल्पानि मयि स्थितानि ॥

महाभारत, विराटपर्व

गौरी की रक्षा और पाखन के मुँह से से से उपाय मागूम है कि जिससे बहुत अन्य गौरी की वृद्धि हो जाती है, और इनको किसी प्रकार के रोग नहीं होने पाते। फिर उन्होंने उत्तम छात्रों के अपने परीक्षण-कोशक को पतलाते हुए कहा —

करमन्त्रायामि वाचामि राजन् वृद्धिजनकम् ।

येन मृगमुपायान् अपि कम्पा प्रसूते ॥

महाभारत, विराटपर्व

इसके सिवाय है राजन्, छात्रों की उत्तम उत्तम जातियाँ भी इस पेसी जात है कि जिसका सिर्फ मूत्र माछी सूँघकर बड़ी बड़ी कन्या गौरी भी बच्चा है सकती हैं।

कहाँ भारतवर्ष के राजकुमारों को भी गोपाखन की इतनी शिक्षा हो जाती थी, और कहा मात्र हम गोपाखन में इतनी क्यासीस्ता सिखा रहे हैं। कुछ ठिक्का है।

अब प्रत्येक हिन्दूधर्मानुयायी को गोपाखन और गोपक्ष के लिए जागृत हो जाना चाहिए, और गौ को किसी बूढ़े मनुष्य के हाथ देकर तथा भयानक को गौ का दान देना पाप समझना चाहिए।

चौथा खण्ड

दिनचर्या

दिनचर्यां निशाचर्यां ऋतुचर्यां यथोदिताम्
आचरन्पुरुषः स्वस्थः सदा तिष्ठति नान्यथा

ब्राह्मसुहृत्

रात को ठीक समय पर सोने और सुबेरे ठीक समय पर उठने पर ही मनुष्य के जीवन की सारी सफलता है। तसवार में जितने भी महापुरुष, ऋषिमुनि, पंडित, धनवान्, धर्मात्मा और देश-भक्त हुए हैं, अथवा इस समय मौजूद हैं, वे सब प्रातः-काल स्वयं उठते रहे हैं, और उठते हैं, तथा ऐसा ही उनका उपदेश भी है। मनुजी इस विषय में लिखते हैं —

ब्राह्मे सुहृते बुध्येत धर्माथो चानुचिन्तयेत् ।

क्रायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥

मनु०

अर्थात् ब्राह्मसुहृत् में उठकर धर्म और अर्थ का चिन्तन करे। शरीर में यदि कोई कष्ट हो, तो उसके कारण को सोचे, और 'वेदतत्त्वार्थ' अर्थात् परमेश्वर का ध्यान करे।

'ब्राह्मसुहृत्' चार घड़ी तड़के लगता है, जब कि पूर्व की ओर क्षितिज में सूर्य की थोड़ी थोड़ी लाल आभा दिखाई देती है, और दो चार नक्षत्र भी आकाश में दिखाई देते रहते हैं। यही उठने का ठीक समय है। इसको अमृतवेला भी कहते हैं। जो मनुष्य अपने जीवन में इस वेला को साथ लेता है, उसके अमर होने में कोई सन्देह नहीं। अर्थात् वह अपनी पूरी आयु भोग करके अपने सत्कार्यों से ससार में अजरामर हो जाता है।

निद्राका विश्राम लेकर जब प्रातः काल ब्राह्मसुहृत् में मनुष्य उठता है, तब उसकी सब इन्द्रियां और बुद्धि स्वच्छ और ताजी हो जाती हैं। उस समय वह जो कार्य प्रारम्भ करता है, दिन

भर उसमें सफ़ाई ही होती है, और प्रातःकाल उठनेवाले मनुष्य का समय भी सुबह मिस्रवा है। जो लोग सूर्य उदय होने तक सोते रहते हैं, उनको बुद्धि और इच्छियाँ मन्द पड़ जाती हैं, शरीर में मायूस्य भर जाता है उनका चेहरा पीला पड़ जाता है। तेज्र जाता रहता है, और चेहरे पर मुस्कान का छाँव रहता है। दिन भर जो कुछ काम वे करते हैं, उसमें ठसको उत्साह नहीं रहता, और न किसी कार्य में सफ़ाई ही होती है। अतएव सुष्य देर से उठनेवाला मनुष्य सर्वत्र इच्छी पड़ता है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

कुपकिर्णं दन्तमङ्गलवारिणम्
बहुमिदं विस्मयोऽप्यपिणम् ॥
सूर्योदये चान्तमये च धाक्किणम् ।
विमुग्रति भीरसि चान्ताणिम् ॥

अर्थात् जिनके शरीर और कलम में छेद होते हैं, हाँतों पर मीठ जमा रहता है, बहुत अधिक भोजन कर लेते हैं, और सर्वत्र कठोर बचन पोछते रहते हैं तथा जो सूर्य के उदय और अस्त के समय सोते हैं वे महा इच्छी होते हैं—यहाँ तक कि चाहे 'अन्त्याणि' * अर्थात् बड़े भारी सीमाव्यवस्था की सक्ती-भर चिन्ता ही क्यों न हो परन्तु उनको भी सक्ती छोड़ आती है। इसलिये सूर्योदय तक सोते रहना बहुत हानिकारक है।

अस्तु। अब यह है पना चाहिए कि प्रातःकाल जब तक उठकर मनुष्य क्या करे। मनुष्य ने उपर्युक्त श्लोकमें कहा है कि

* यहाँ 'अन्त्याणि' शब्द में कवि ने स्नेह रखा है। इसके दो अर्थ हैं। अर्थात् साहसिक के अनुसार जिनके हाथ में दण्ड रहते हैं, वह राजा होता है, और दूसरा अर्थ वह चारण करनेवाले विष्णु।

पहले धर्म का चिन्तन करें—अर्थात् अपने मन में परमात्मा का ध्यान कर के यह निश्चय करे कि हमारे हाथ से दिन भर सब कार्य धर्मवर्षूक ही हों, कोई कार्य अधर्म अथवा अन्याय का न हो, जिससे हमको अथवा दूसरे किसी को दुःख हो। अर्थ के चिन्तन से यह मतलब है कि हम दिन भर उद्योग कर के सच्चाई के साथ धन उत्पन्न करें, जिससे स्वयं सुखी रहें, और परोप-कार कर सकें। शरीर के कष्ट और उनके कारणों का चिन्तन इस लिए करें कि जिससे आरोग्य रहें, क्योंकि आरोग्यता ही सब धर्मों का मूल है। कहा भी है कि,

शरीरमाद्य खलुधर्मसाधनम् ।

फिर सब वेदों का सार जो ओंकार परमात्मा है, उसका ध्यान करें, क्योंकि वही सब में रम रहा है, और सारा संसार उसमें रम रहा है। वही हमारे सब कर्मों को देखनेवाला और हमारा साक्षी है।

प्राय प्राचीन लोगों में यह चाल देखी जाती है कि प्रातः-काल उठकर परमात्मा का स्मरण करते हुए पहले अपनी हथेली का दर्शन करके उसको चूमते हैं, और साथ ही यह श्लोक भी पढ़ते हैं —

कराग्रे वसते लक्ष्मी करमध्ये सरस्वती ।

करमूले स्थितो ब्रह्मा प्रमाते करदर्शनम् ॥

इसका भी तात्पर्य वही है, जो मनु महाराज ने बतलाया है। प्रातः काल करदर्शन इसी लिए किया जाता है, जिससे दिन भर हमारे हाथ से शुभ कर्म हों। ऊपर के श्लोक में हथेली में तीन देवताओं का वास बतलाया है। हथेली के आगे लक्ष्मी, जो द्रव्य का देवता है; हथेली के बीच में सरस्वती, जो विद्या का

देवता है, और इधली के पीछे ब्रह्मा, जो बंधनीय और स्रष्टा का देवता है। सारांश यह है कि सुबह उठकर मनुष्य को परमात्मा का चिन्तन करते हुए अपनी दिनभर के उन कार्यों का विचार करना चाहिए कि जो हमारे चारों पुरुषार्थों—अर्थात् धर्म अर्थ काम, मोक्ष से सम्बन्ध रखते हैं। इसका विचार करने के बाद तब चारपाई से नीचे बैठकर रखना चाहिए। जब हम चारपाई से नीचे पैर रखते हैं, तब धरती पर हमारा पैर पड़ता है। धरती हम सब की माता है। इसीसे हमको, मा के पैर से नीचे गिरने पर, अपनी गोद में छिपा है। इसी पर हम लेटे जाते और बड़े हुए हैं। यही हमको माता प्रकार के परम-धर्म देकर हमारा पालन करती है, और अन्त में—

४ मी—हमें यही अपनी गोद में छिपान देती है। इस हमारे बड़े-बड़े लोग सुबह जब चारपाई से पैर नीचे रखते हैं, तब यह श्लोक कहकर धरती माता को भी नमस्कार करते हैं, और पैर रखने के लिए हमें माँपते हैं —

समुद्रकले देवि पर्वतस्त्वमीषे ।

विष्णुकी कमस्तुम्बं वाक्स्त्वो ज्ञमस्व मे ॥

अर्थात् हे देवी समुद्र ही तुम्हारी साखी है, और पर्वत तुम्हारे स्तनमंडल है, तुम विष्णु अर्थात् सब के पालन करनेवाले भगवान् की पत्नी हो अतएव हमारी माता हो जब हम यह जो तुम्हारे शरीर में अपना पैर छुभाते हैं—क्या करें छुमाना छाकारी है—इसके लिए माता हमको क्षमा करो। वैसे तुम्हें माय है। धरती माता को भक्ति मनुष्य के जीवन का एक मुख्य कर्तव्य है —

जगती जगद्भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।

इतना करने के बाद फिर हमको अपने नित्यकार्यों में लग जाना चाहिए। शौच, दन्त-धावन, स्नान-संध्या, खुली हवा में व्यायाम, इत्यादि सुबह के मुख्य कर्म हैं। ये सब कार्य स्वच्छ और खुली हवा में प्रातःकाल करने चाहिए। प्रातःकाल जो वायु चलती है, वह शरीर और मनको प्रसन्न करके प्रफुल्लित कर देती है, और आरोग्यता को बढ़ाती है। यह वायु सूर्योदय के पहले दो घंटे चलती है, सूर्योदय के बाद हवा दूसरी हो जाती है। इसी वायु के गुण का वर्णन करते हुए किसी हिन्दी कवि ने कहा है.—

प्रातःसमय की वायु को सेवन करत सजान ।

ताते मुख- छवि बढ़ति है, बुद्धि होति बलवान् ॥

अतएव बालक से लेकर बूढ़े तक, स्त्री-पुरुष सब को, इस अमृतवेला का उचित रीति से साधन करना चाहिए।

स्नान

स्नान का सर्वात्म्य समय प्रातःकाल ही है। शोध मुक्त मार्जम के बाद स्नान करना चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि व्यायाम के पहले स्नान करना चाहिए, जिससे शरीर के छिद्र खुल जायें और व्यायाम करते समय पसीने के द्वारा तथा वायुसंचार के द्वारा शरीर का मल मूली मॉति निकल सके; और कई लोगों का यह भी मत है कि व्यायाम के बाद स्नान करना चाहिए, जिससे शरीर से निकला हुआ मल साफ हो ५। दोनों मत ठीक हैं। जिसका जैसी सुविधा हो वैसा करना चाहिए, परन्तु यह ध्यान में रहे कि व्यायाम के बाद तुरन्त ही स्नान करना ठीक नहीं। कुछ देर विराम लेकर स्नान करना चाहिए।

स्नान सर्वत्र शीतल जल से ही करना चाहिए। इससे शरीर स्वस्थ और चित्त प्रसन्न होता है। परन्तु शीत प्रवेष्टा में यदि कुछ उष्ण जल से स्नान किया जाय तो भी कोई हानि नहीं। मूलतः यह कि देशकाल के अनुसार व्यवहार करना उचित है। सर्दी के मौसिम में प्रायः एक ही बार स्नान किया जाता है; परन्तु यदि दो बार का अभ्यास किया जाय, तो भी हानि ही होगी। ग्रीष्म और वर्षा में दो बार स्नान करना बहुत साम्प्रदायिक है।

स्नान के पहले तैलामर्शण करने से भी स्वास्थ्य की वृद्धि होती है। मान्य प्रकार में लिखा है कि स्नान के पहले शरीर में तैल इत्यादि मध्यमे से वातादि दोष दूर होते हैं, पक्षाघात मिटती है, बल बढ़ता है, नींद अच्छी आती है। शरीर का रंग सुन्दर है।

आयु बढ़ती है। सिर पर तेल मलने से मस्तक के सब रोग दूर होते हैं। दृष्टि स्वच्छ रहती है। शरीर में पुष्टि आती है। केश घने, काले, लम्बे, मुलायम होते हैं। कान में तेल डालने से सब कर्णरोग दूर होते हैं। पैरों में मलने से पैरों की थकावट दूर होती है, फोड़े-फुन्सियाँ नहीं होती, और पैरों के तलुवों में मलने से सब शरीर पर उसका असर होता है। आखों को भी लाभ होता है।

स्नान-समय के अभ्यंग से रोमछिद्रों, नाडियों और नसों के द्वारा शरीर तप्त और बलवान् होता है। जैसे जल से वृक्ष का प्रत्येक अंग बढ़ता है, वैसे अभ्यंग से शरीर की सब धातुएँ बढ़ती हैं। परन्तु जिनको अजीर्ण हो, नवीन उबर आया हो, उलटी हुई हो, या झुलाव हुआ हो उनको अभ्यंग मना है।

तैलाभ्यंग के बाद शीतल जल से स्नान करते हुए शरीर के सब अंगप्रत्यंगों को खूब मलना चाहिए; और पीछे से गाढ़े के अँगौछे से शरीर को खूब रगड़ कर पोछना चाहिए। स्नान के लाम महर्षि वाग्भट्टजी ने इस प्रकार लिखे हैं —

उद्धर्तन कफहरं मेदस प्रविलापनम् ।

स्थिरीकरणसंगाना त्वक्प्रसादकरं परम् ॥

वाग्भट्ट०

शरीर को रगड़कर मैल निकालने से कफ और मेद का नाश होकर शरीर दृढ़ हो जाता है। शरीर की त्वचा मुलायम और सुन्दर हो जाती है।

दीपनं वृध्यमायुष्यं स्नानमूर्जाबलप्रदम् ।

ऋणदूषलघ्नमस्वेदतद्रातृद्वाहपाप्मजित् ॥

स्नान से जठराग्नि की वृद्धि, शरीर की पुष्टि, बल की अधिकता,

स्नान

स्नान का सर्वोत्तम समय प्रातःकाळ ही है। शोध मुक्त-
मात्रा के बाद स्नान करना चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि,
व्यायाम के पहले स्नान करना चाहिए, जिससे शरीर के छिद्र
कुल जावें और व्यायाम करते समय पसीने के द्वारा तथा
वायुसंचार के द्वारा शरीर का मल मली भांति निकल सके।
और कई लोगों का यह भी मत है कि व्यायाम के बाद स्नान
करना चाहिए, जिससे शरीर से निकला हुआ मैल साफ हो
जाय। दोनों मत ठीक हैं। जिसको जैसी सुविधा हो वैसा
करना चाहिए, परन्तु यह ध्यान में रहे कि व्यायाम के बाद
तुरन्त ही स्नान करना ठीक नहीं। कुछ देर विश्राम लेकर स्नान
करना चाहिए।

स्नान सर्वत्र शीतल जल से ही करना चाहिए। इससे
शरीर स्वस्थ और चित्त प्रसन्न होता है। परन्तु शीत मौसमों
में यदि कुछ जल जल से स्नान किया जाय तो भी कोई हानि
नहीं। मरुस्थल यह कि बैरुहाल के अनुसार व्यवहार करना
उचित है। सरसी के मौसम में प्रायः एक ही बार स्नान किया
जाता है, परन्तु यदि दो बार का व्यवसास किया जाय, तो भी
काम ही होगा। शीघ्र और गर्म में दो बार स्नान करना बहुत
साम्प्रदायिक है।

स्नान के पहले तैयारबर्ग करनी से भी स्वास्थ्य की पुष्टि होती
है। भाव प्रकाश में लिखा है कि स्नान के पहले शरीर में तैल
इत्यादि मलने से बाधादि शोध दूर होते हैं, थकापट मिटती है,
यल धृता है, नींद अच्छी आती है। शरीर का रंग पुकता है।

की आग बढ़ती है, चर्बी, अर्थात् शरीर का बलगम नाश हो जाता है, शरीर के सब अंग-प्रत्यंग यथोचितरूप से सुदृढ़ मजबूत हो जाते हैं। जो लोग खड़ी-मलाई-पकवान इत्यादि गरिष्ठ अन्न खाते हैं, और शारीरिक परिश्रम के कार्य करनेका जिनको विलकुल मौका नहीं मिलता, उनके लिए तो व्यायाम अत्यन्त आवश्यक है —

विरुद्धं वा विदग्धं वा भुक् शीघ्रं विपच्यते ।

भवति शीघ्रं नैतस्य देहे शिथिलोदयः ॥

अष्टागहृदय

अर्थात् ऐसे लोग जो प्रकृति के विरुद्ध गरिष्ठ भोजन करते हैं, उनका भोजन भी व्यायाम से पच जाता है, और शरीर में शीघ्र शिथिलता नहीं आने पाती। जिन लोगों की चरबी बेतरह बढ़ रही हो; और शरीर वेडौल मोटा हो रहा हो, उनके लिए व्यायाम एक बड़ी भारी ओषधि है :—

य चैनं सहस्राक्रम्य जरा समधिरोहति ।

न चास्ति सदृशं तेन किञ्चित्स्थौल्यापकर्षम् ॥

भावप्रकाश

व्यायाम करने से जल्दी बुढ़ापा नहीं घेरता, और यदि व्यायाम बराबर करता रहे, तो मनुष्य मृत्युपर्यन्त अजर, अर्थात् युवा रह सकता है। और जो लोग वेडौल मोटे हो जाते हैं, उनका मोटापन भी छूट जाता है। परन्तु सब लोगों के लिए सदैव व्यायाम हितकर भी नहीं है। आजकल आयुर्वेद के नियम जाने बिना सब तरह के लोग जो बेतरह और असमय-कुसमय व्यायाम करने लग जाते हैं, इससे बड़ी हानि होती है —

वायु की दीप्तता प्राप्त होती है। बाद-आज यकाबद, मठ, पसीना आदि वाह, तथा द्रव्यादि दूर होत है।

इस ऊपर कह चुके हैं कि स्नान सर्वत्र शीतल अथवा गर्म करना चाहिए, परन्तु शीत-यथाम रीति में यदि उष्ण अथवा शीत स्नान किया जाय तो मस्तक के ऊपर उष्ण अथवा शीत मूँडकर भी न डालना चाहिए। इससे नेत्रों को भीर मस्तिष्क को व्यस्त हानि पहुँचती है।

मातृकाष्ठ और सार्वकाष्ठ के स्नान के बाद एकान्त और शुद्ध स्थान पर बैठकर पहले सन्ध्यापाठन करना चाहिए। इसके बाद घर के अन्य कार्य तथा व्यवसाय विषयों पर ध्यान देना चाहिए।



व्यायाम

मानव को पचाने और शरीर को दृष्टपुष्ट रखने के लिए मनुष्य को व्यायाम की बहुत आवश्यकता है। व्यायाम से क्या काम होता है, इस विषय में आयुर्वेद के व्याख्यानकर्त्ता धर्मशिक्षा जी कहते हैं —

कारणं कर्मसामर्थ्यं बीजोर्ध्वैर्बलवत् ।

विमलवत्त्वार्थं व्यायामात्प्राप्नोति ॥

आयुर्वेद

व्यायाम से कुर्ती जाती है कार्य करने की शक्ति बढ़ती है पर

की आग बढ़ती है, चर्बी, अर्थात् शरीर का बलगम नाश हो जाता है, शरीर के सब अंग-प्रत्यंग यथोचितरूप से सुदृढ मज-बूत हो जाते हैं। जो लोग खड़ी-मलाई-पकवान इत्यादि गरिष्ठ भोजन खाते हैं, और शारीरिक परिश्रम के कार्य करनेका जिनको बिल्कुल मौका नहीं मिलता, उनके लिए तो व्यायाम अत्यन्त आवश्यक है.—

विरुद्धं वा विदग्धं वा भुक्तं शीघ्रं विपच्यते ।

भवति शीघ्रं नैतस्य देहे शिथिलतोदय ॥

अष्टांगहृदय

अर्थात् ऐसे लोग जो प्रकृति के विरुद्ध गरिष्ठ भोजन करते हैं, उनका भोजन भी व्यायाम से पच जाता है; और शरीर में शीघ्र शिथिलता नहीं आने पाती। जिन लोगों की चरबी बेतरह बढ़ रही हो; और शरीर वेडौल मोटा हो रहा हो, उनके लिए व्यायाम एक बड़ी भारी औषधि है.—

य चैनं सहस्राक्रम्य जरा समधिरोहति ।

न चास्ति सदृशं तेन किञ्चित्स्थौल्यापकर्षम् ॥

भावप्रकाश

व्यायाम करने से जल्दी बुढ़ापा नहीं घेरता; और यदि व्यायाम बराबर करता रहे, तो मनुष्य मृत्युपर्यन्त अजर, अर्थात् युवा रह सकता है। और जो लोग वेडौल मोटे हो जाते हैं, उनका मोटा-पन भी छूट जाता है। परन्तु सब लोगों के लिए सदैव व्यायाम हितकर भी नहीं है। आजकल आयुर्वेद के नियम जाने बिना सब तरह के लोग जो बेतरह और असमय-कुसमय व्यायाम करने लग जाते हैं, इससे बड़ी हानि होती है.—

भुज्यान्कुक्षयोः कासी द्वासी कुक्षा क्षी ।

रक्षिणी क्षी क्षी न तं कुक्षेऽवधाय ॥

यावत्प्रस

जो भभी हाल ही में मोझन मधवा लीप्रसंग कर चुका है, अर्थात् जो द्रव्यार्थ के नियमों का पालन नहीं करता जिसको खाँसी या स्वासका रोग है, जो बहुत कमजोर है, जिसका क्षय रक्षपित्त, सुत, शोथ का रोग है, इसको व्यायाम कभी न करना चाहिए। हाँ यदि हाँ सके, तो खुली हवा में धीरे-धीरे टहलने का व्यायाम पं छाँय भी कर सकते हैं। अत्यन्त कठोर व्यायाम हाँ समो के छिये हानिकारक है। जिसका व्यायाम शरीर से सहन हो सके उसका ही व्यायाम करना चाहिए। अति लघु जगह पश्चित है —

गुप्ताङ्गकः प्रथमको रक्षिणी क्षी न कम्पा ।

अतिज्वालास्तः कासो ज्वररक्षिणी न चाक्षे ॥

अनुमन्त्रण ।

बहुत व्यायाम करने से शरीर में सुस्की पड़ती है, गुप्ता का रोग हाँ जाता है क्षय द्वासी, रक्षपित्त, म्हावि कासी इत्यादि का रोग हो जात है।

इस छिए धर्मिक व्यायाम न करना चाहिए। व्यायाम का इतना हाँ मठमय है कि शरीर से परिधम किया जाय जिससे भाजन पसे, धीरे दृढ़ता भावे। व्यायाम अनेक प्रकार के हैं। परम्पु अनुमप ॥ जाका गया है कि खुली हवा में, बस्ती के बाहर, प्रकृतिसौम्य से पूरा हरे-भरे जंगल मधवा पहाड़ी इत्यादि में लूब तीर्ती के साथ समज करना लघु से मध्या व्यायाम है। समज करने समय हाथ धिक्कुल गुले छाँड़ देना

चाहिए, और सब शरीर के अंगप्रत्यंगों का संचालन स्वाभाविक रूप से होने देना चाहिए। श्वास को रोकने का प्रयत्न न करना चाहिए और मुखसे श्वास कभी न लेना चाहिए। किसी प्रकार का भी व्यायाम हो, सदैव नासिका से ही श्वास लेना और छोड़ना लाभदायक है।

आजकल हमारे विद्यार्थियों में अंगरेजी व्यायाम की प्रथा चल पड़ी है। यह बहुत ही हानिकारक है। दण्ड, मुगदर, कुश्ती, दौड़, कचड़ी, इत्यादि देशी व्यायाम का समय सुबह और शाम बहुत अच्छा है। असमय में भूखे प्यासे विद्यार्थियोंको व्यायाम कराना मानो उनको जानबूझकर मृत्यु के मुख में देना है।

भोजन

भोजन शरीर के लिये आवश्यक है। परन्तु भोजन ऐसा ही करना चाहिए कि जो शुद्ध हो। क्योंकि जैसा हम भोजन करेंगे, वैसी ही हमारी बुद्धि, मन और शरीर बनेगा। अर्थात् भोजन की शुद्धि पर ही हमारे जीवन की शुद्धि अवलम्बित है। महाभारत उद्योगपर्व में लिखा है —

यच्छक्त्यं ग्रसितुं ग्रास्यं ग्रस्तं परिणमेच्च यत् ।

द्वितं च परिणामे यत्तदायं भूतिमिच्छता ॥

महाभारत, उद्योगपर्व

जो पदार्थ भोजन करने योग्य हों, पचने योग्य हों, तथा परिणाम में गुणकारी हों, उन्हीं पदार्थों का भोजन, आरोग्यता की इच्छा रखनेवालों को करना चाहिए। सतोगुण, रजोगुण और तमो-

गुण के अनुसार तीन प्रकार के आहार, जो गीता में कथन किये गये हैं, उनमें से सतोगुणी लोगों को जो प्रिय है, उन्हीं आहारों का ग्रहण करके अन्य दो प्रकार के आहारों का त्याग करना चाहिए। सतोगुणी आहार इस प्रकार कथनाया गया है:—

आनुशक्तककरोम्यह्वीतिनिर्वर्णः ।

एवमः स्निग्धश्च स्थिर इवा आहारः सात्विकमिवा ॥

गीता अ० १७

अर्थात् आनु, जीवन की पवित्रता रख, आरोग्य, सुख, प्रेम को बढ़ावा देने वाला, स्निग्ध, पुष्टिकारक, उष्णिकारक आहार सात्विक लोगों को प्यारे होते हैं। इस यही गुण मिल पदार्थों में हैं उन्हीं को मोझन करना चाहिए। अब सतोगुणी और तमोगुणी आहार, जिनका त्याग करना चाहिए, कथनाते हैं:—

कृद्गन्धकलातुल्यवीर्यमवशिष्टमिदम् ।

आहार राजसमेव दुग्धलोकात्मकः ॥

गीता अ० १८

कनुषे कड़े गमकीन, बहुत गरम, तीखे, कड़े, और कड़े के अलावों के आहार राजसी मनुष्यों को पसन्द आते हैं। वे आहार दुग्ध, शोण और रोम उपजाते हैं। अतएव इनको त्यागना चाहिए। अब तमोगुणी आहार देखिये:—

वातघ्नं कण्ठं पुष्टिस्तुभिरं च करः ।

अभिजायते चामेवं धोक्चं साम्प्रतिकम् ॥

गीता, अ० १७

एक पहर का खा हुआ, नीरस, सड़ा-भुसा खुरम और मनुष्य (मांसादि) तमोगुणी लोगों का मोझन है। इस मोझन को भी अतएव निहृद और त्याग्य समझना चाहिए।

इसके अतिरिक्त देश-काल का भी विचार कर के जहा जिस समय जैसा आहार मिलता हो उसमें से सात्विक और अपने लिये हितकर आहार ग्रहण करना चाहिये । भोजन बहुत अधिक नहीं करना चाहिये, किन्तु पेट को कुछ खाली रखना चाहिये । भगवान् मनु कहते हैं—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चाविभोजनम् ।

अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥

मनु०, अ० २

बहुत भोजन करना आरोग्य, आयु और सुख के लिये हानिकारक है । इससे पुण्य भी नहीं और लोगों में निन्दा होती है । इसलिये बहुत भोजन नहीं करना चाहिये ।

भोजन के पहले और पीछे हाथ-पैर और मुख भली भाँति धो डालना चाहिये । भोजन ठीक समय पर करना चाहिये । प्रातःकाल १० बजे और सायंकाल को सूर्य डूबने के पहले भोजन कर लेना चाहिये । भोजन सिर्फ साय-प्रातः दो ही बार करना चाहिए । बीच में जल के अतिरिक्त और कुछ नहीं ग्रहण करना चाहिये । महाभारत में कहा है—

सायंप्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितम् ।

नान्तरा भोजनं दृष्टमुपवासी तथा भवेत् ॥

महाभारत, शान्तिपर्व

सुबह शाम दो ही बार भोजन करना मनुष्यों के लिये देव-ताओं ने बनाया है, बीच में भोजन नहीं करना चाहिये । इससे उपवास का फल होता है ।

पीने के लिये शुद्ध जल से उत्तम पदार्थ और कोई भी नहीं है । गौ का शुद्ध ताज़ा दूध भी प्रातःकाल ७ बजे के लगभग

ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु बहुत लोगों की सम्प्रति है कि दुग्ध इत्यादि भी मोक्षण के साथ ही लेना चाहिये, भस्म पीने की आवश्यकता नहीं। बीच बीच में तो केवल गुड़ अथवा ही ग्रहण करना चाहिये। आयुर्वेद के आचार्य महर्षि सुश्रुतजी गुड़ अथ का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

शिरान्ममल्लक्षरं तुल्यं हृदि शीतम् ।

अथ गन्धं च हृदि च शीतं गुणगुणम् ॥

सुश्रुत, सूक्तसाधन ४१

जिसमें किसी प्रकार की सुगंध या दुर्गन्ध न हो किसी प्रकार का विशेष स्वाद न जान पड़े, जिससे प्यास मिटे, पवित्र हो, शीतल हो, अच्छा हाँकना हो मिय हो ऐसा अथ गुणकारी माना गया है। इसी प्रकार का अथ सेवन करना चाहिये। मोक्षण के संबंध से अथ का सेवन इस प्रकार करना है—

अथोर्ध्वं शिरसि शीतं शिरसि कल्पम् ।

मोक्षे चाथं शिरसि मोक्षान्ते विप्रप्रम् ॥

—वाग्भट्टश्री

अर्धोर्ध्व में अथ शीपथि का काम करता है, और मोक्षण पथ जाने पर अथ कल्याणक होता है। मोक्षण करते समय बीच में थोड़ा थोड़ा अथ पीते रहने से वह अमृत की तरह कामनायक होता है। परन्तु मोक्षण के अन्त में बहुत सा अथ पकड़म पी लेने से वह विष की तरह हानिकारक होता है।

प्रथम तो मोक्षण अपने घर का ही शुद्धता के साथ बना हुआ ग्रहण करना चाहिये। फिर जिसके यहाँ का हमको विश्वास हो ओ पवित्र मनुष्य हों जिसका व्यवसाय पवित्र हो मय भोक्त का सेवन न करती हों धर्मात्मा हों ऐसे लोगों के यहाँ भी मोक्षण ग्रहण करने में कोई हानि नहीं।

इसके सिवाय भक्ष्याभक्ष्य में अफीम, गांजा, भाग, चरस, मद्य, ताड़ी, बीड़ी-सिगरेट, चाय इत्यादि सब का निषेध है। अर्थात् जितनी नशीली चीजें हैं, उनका कभी सेवन न करना चाहिये। नशीली चीज़ का लक्षण आयुर्वेद में इस प्रकार दिया है—

बुद्धि लुप्पति यद्वद्वन्म मदकारी तदुच्यते ।

शाङ्गधर, अ० ४

अर्थात् जिस चीज़ के सेवन से बुद्धि का नाश होता हो, वही चीज़ नशीली है। उसका सेवन न करना चाहिये।

निद्रा

प्रवृत्ति और निवृत्ति से सृष्टि चलती है। प्रवृत्ति के बाद निवृत्ति और निवृत्ति के बाद प्रवृत्ति सृष्टि का आवश्यक नियम है। इसी के अनुसार दिन को कार्य करना और रात को आराम करना सब जीवों के लिये आवश्यक है। मनुष्येतर जीव तो इस विषय में नियम से खूब बंधे हुए हैं। जहां सायंकाल हुआ, चिड़ियां वसेरा लेने के लिये अपने अपने घोंसलों की ओर दौड़ती हैं। परन्तु मनुष्य प्राणी का कोई नियम नहीं है, और इसी कारण अल्पायु होकर मर जाता है। कितने ही लोग प्रकृति के विरुद्ध आचरण करते हैं। दिन को सोते तथा रात को जागते हैं, अथवा दिन रात में सोने और काम करने का कोई

विषम न बांधकर बाण्ड या एक बजे रात तक जागते रहते हैं। और सूर्योदय के पाह सात-आठ बजे तक भी सोते रहते हैं। इससे उनकी भारोम्पता ज़राब हो जाती है, और नासु धीब होकर वे शीघ्र ही मृत्यु के प्राप्त बन जाते हैं। इसलिये ठीक समय पर सोने और ठीक समय पर जागने का विषम मनुष्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

ब्रह्ममुहूर्त का वर्णन करते हुए हम कहना चुके हैं कि मनुष्य को रात के अन्त में साधारणतया ४ बजे शय्या अवस्थ स्थाप देनी चाहिये। परन्तु ४ बजे तक के अन्तिम के लिये रात के पहले पहर अर्थात् ६ बजे के समय मनुष्य को अवस्थ सो जाना चाहिये। साधारण स्वस्थ मनुष्य के लिये ६ या ७ घंटेकी निद्रा पर्याप्त है। बालकों को आठ या नौ घंटे सोना चाहिये। दिन में अनेक कारणों से मनुष्य रहने के कारण मनुष्य को जो शारीरिक और मानसिक भ्रम पड़ता है, उसको दूर करके सब इन्द्रियों और मन को फिर से तरो-ताजा करने के लिये ६।७ घंटे की गहरी निद्रा लेनी चाहिये। परन्तु हम देखते हैं कि कई लोगों को गहरी निद्रा नहीं जाती। रात को बार बार नींद कुछ जाती है, अथवा बुरे-बुरे स्वप्नों के कारण निद्रावस्था में भी उनके मनको पूरा पूरा विग्राम नहीं मिलता। इसका कारण यही है कि ऐसे मनुष्यों की दिनचर्या ठीक नहीं रहती। जो खोप ज्यादा निद्रा में पड़ें रहते हैं अथवा रात को बहुत गरिष्ठ भोजन करने पक-हम सो जाते हैं, उनको कभी गहरी नींद नहीं आ सकती। इस-लिये निम्नकी पुष्ट भोजन करना हो उनको सूर्य दूबने के पहले ही शाम को भोजन कर लेना चाहिये। इससे ६ बजे रात तक वह भोजन बहुत कुछ पच जायगा, और उनको गहरी निद्रा आवेगी। इसके सिवाय दिन के कार्य नियमित रूप से करने

चाहिए। शरीर को काफी परिश्रम भी मिलना चाहिए, क्योंकि जो लोग काफी शारीरिक परिश्रम या व्यायाम नहीं करते हैं, उनको भी गहरी नींद नहीं आती। दिन को कार्य करते समय मन को व्यग्र नहीं रखना चाहिए, बल्कि सब कार्य स्थिर चित्त से करना चाहिये। प्रत्येक कार्य में मन की एकाग्रता और निश्चिन्तता रखने से रात को नींद अच्छी आती है। कई लोग दिन को बहुत-सा सो लेते हैं। इस कारण भी रात को उन्हें नींद नहीं आती। दिन को सोना बहुत ही हानिकारक है —

अनायुष्यं दिवास्वप्न तथास्युदितशायिता ।

प्रगे निशामाशु तथा ये वोच्छिष्टाः स्वपन्तिवै ॥

महाभारत, अनुशासनपर्व

दिन में सोने से, और दिन चढ़ जाने तक सोते रहने से, आयु का नाश होता है। इसी प्रकार जो लोग रात्रि के अन्तिम भाग में सोते हैं, और अपवित्र रहकर सोते हैं, उनकी भी आयु क्षीण होती है।

दिन को सोने से क्या हानि होती है, इस विषय में आयुर्वेद कहता है—

दिवा स्वापं न कुर्वीत यतोऽसौ स्यात्कफावहः ।

ग्रीष्मर्ष्येषु कालेषु दिवास्वप्नो निषिध्यते ॥

दिन में न सोना चाहिये, क्योंकि इससे कफ की वृद्धि होती है। हा ग्रीष्मकाल में यदि थोड़ा आराम कर ले, तो कोई हानि नहीं; क्योंकि इस ऋतु में एक तो दिन बड़े होते हैं, दोपहर को कड़ी धूप और गर्मी में कार्य भी कम होता है; और कफ का प्रकोप भी स्वाभाविक प्रकृति में कम हो जाता है।

रात को ६ और १० बजे के मन्दार हाथ-पीर, मुह एवादि धोकर शुद्ध-स्वच्छ शैया के ऊपर मन को सब संकल्प-विषयों से हटा कर सोना चाहिये। बारपाई पर पड़कर मन में किसी प्रकार के भी संकल्प-विषय न खाना चाहिये। क्योंकि जब तक मन शान्त नहीं होता है, गहरी निद्रा नहीं आती है। मन को शान्त करने का सबसे बड़ा साधन यही है कि सब विषयों से चित्त को हटाकर एक ईश्वर की तरफ लगावे, उसी की स्तुति प्रार्थना और उपासना के हवाला पड़ते हुए और उसी में मन को एकाग्र करके सो जावे। उपनिषद् में कहा है—

एकान्तं चापरिचिन्तं सोमो वेवाकुमनसि ।

महान्तं विमुमात्मानं मत्वा वीरो न कोचति ॥

कठोपनिषद्

अर्थात् निद्रा के अन्त में और आसुप्त अवस्था के अन्त में अर्थात् सोने से पहले जो उस महान् सर्वव्यापी परमात्मा में अपना चित्त लगाकर, उसी की स्तुति-उपासना और प्रार्थना करके उसी में मग्न होकर, उसी का दर्शन करते हुए, सो जाता है, उसका कष्ट नहीं होता।

इस प्रकार जो मनुष्य दिन भर स्वाभाव-पूर्वक अपने सब व्यवसाय करके और अन्त में पवित्रता-पूर्वक, पवित्र तथा पर, परमात्मा का ध्यान करते हुए निद्रा की योग्यता में बड़ा समय स्वप्न विधाम करते हैं, उनको ही निद्रा का परम लाभ प्राप्त होता है। इस प्रकार समय पर सोने से बड़ा लाभ है, आयुर्वेद कहता है—

विद्रा तु लेभेता काले वाङ्मत्तान्ममस्तद्विषयम् ।

मुचिर्नकोरताई बहिरीति करोति हि ॥

भावप्रकाश

समय पर और यथानियम सोने से मनुष्य के शरीर की सब धातुएँ सम रहती हैं, किसी प्रकारका आलस दिन में नहीं आता शरीर पुष्ट होता है, रंग खिलता है, बल और उत्साह बढ़ता है, और जठराग्नि प्रदीप्त होकर भूख बढ़ती है ।

हा, एक बात और है । हमने गम्भीर निद्रा आनेके लिये सूर्य डूबने के पहले भोजन का विधान किया है, परन्तु कई गृहस्थों के लिये ऐसा सम्भव नहीं है । उनके लिये आयुर्वेद के ग्रन्थ भावप्रकाश में इस प्रकार आज्ञा दी है —

रात्रौ च भोजनं कुर्यात् प्रथमाग्रहरान्तरे ।

किञ्चिद्न समशनीयात् दुर्जरं तत्र वर्जयेत् ॥

अर्थात् ऐसे गृहस्थ, जिनको सूर्य डूबने के पहले अपने व्यवसाय के कारण, भोजन करना असम्भव है, सूर्य डूबने के बाद भोजन कर सकते हैं, परन्तु शर्त यह है कि वे रात के पहले पहर के अन्दर ही भोजन कर ले, और कुछ कम भोजन करें, तथा गरिष्ठ भोजन तो बिल्कुल ही न करें । हल्का भोजन जैसे दुग्ध-पान इत्यादि कर सकते हैं । जिनको गरिष्ठ भोजन, अर्थात् अधिक देर में पचनेवाला भोजन करना हो, उनको सूर्य डूबने से पहले ही शाम को भोजन करना अनिवार्य है ।

निद्रा के इन सब नियमों का पालन करने से मनुष्य अवश्य आरोग्य रहेगा । आरोग्यता धर्म का मूल है ।

पांचवां खण्ड अध्यात्म-धर्म

“न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते”
—गीता, अ० ८

ईश्वर

ईश्वर का मुख्य लक्षण हिन्दू धर्म में “सच्चिदानन्द” माना गया है—अर्थात् सत्+चित्+आनन्द। सत् का अर्थ है कि, जो सदैव से है, और सदैव रहेगा। चित् का अर्थ है चैतन्य स्वरूप या सम्पूर्ण शक्तियों का प्रेरक, सर्वशक्तिमान्। और आनन्दस्वरूप—अर्थात् सुखदुख, इच्छाद्वेष, इत्यादि सब द्वन्द्वों से परे हैं। महर्षि पतञ्जलि योगदर्शन में कहते हैं —

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर ।

योगदर्शन ।

अर्थात् जो अविद्यादि क्लेश, कुशल, अकुशल, इष्ट, अनिष्ट और मिश्रफलदायक कर्मों की वासना से रहित है, जीवमात्र से विशेष है, वही ईश्वर है। ईश्वर छोटे से छोटा और बड़ेसे बड़ा है, क्योंकि वह सब में व्यापक होकर भी सबको चला रहा है। जीव सबसे छोटा माना गया है, परन्तु वह ईश्वर जीव के अन्दर भी बसेता है। आकाश और मन इत्यादि द्रव्य सब से छोटे हैं, परन्तु परमात्मा इनके अन्दर भी व्यापक है।

वह देवों का देव है। तैंतीस कोटि देवता हैं। अर्थात् देवताओं की तैंतीस कोटि हैं, उनके अन्दर भी ईश्वर बस रहा है; और ईश्वर के अन्दर वे बस रहे हैं। देवताओं की तैंतीस कोटियों की व्याख्या शतपथ ब्राह्मणमें इस प्रकार की गई है —

आठ वसु—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्र। ये सब सृष्टि के निवासस्थान होने के कारण वसु कहाते हैं।

ग्यारह रुद्र—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग,

कर्म इन्द्र, देवदत्त, धनत्रय और जीवात्मा ये म्याह 'अ' इस लिये कहलाते हैं कि अब ये शरीर छोड़ते हैं, अब उठाते हैं।

बाह्य आदित्य—संयत्सरके बाह्य महीमे ही बाह्य आदित्य कहलाते हैं। काल का नियम यही करते हैं, इस लिये इनकी आदित्य संज्ञा है।

एक इन्द्र—इन्द्र विष्णु का कहते हैं, जिसके कारण सृष्टि का पञ्च पेश्यय स्थापित है।

एक प्रजापति—प्रजापति यह को कहते हैं क्योंकि इसीके कारण सम्पूर्ण सृष्टि की रक्षा होती है। वायु, बुध्ति, अन्न, मीषधि, इत्यादि की बुद्धि, सत्पुरुषों का उत्कार और बान्ना प्रकार के कलाकौशल और विज्ञान का कामिर्भाव यह ही से होता है।

यही ठीकस कोटि देवताओं की हैं। इस सबका प्रेरक, सब का मधिष्ठाता, सबका निवासस्थान ईश्वर है। ईश्वरही सम्पूर्ण सृष्टिकर्ता भर्ता संहर्ता है। बर्णान् सम्पूर्ण सृष्टि को बर्ती ने रखा है, वही पावन-योपन और चारण करता है, और बर्ती प्रलयकाल में इसका संहार करता है। वह सृष्टि उत्पन्न होनेके पहले विद्यमान था, और सृष्टि का अन्त हो जाने पर भी विद्यमान रह्यो। वह किसी से पैदा नहीं हुआ है, उसी से सब पैदा हुआ है। वह अनादि-अमर है। सब में व्यापक होकर, सबको एक ही रूप है, और सब को नियमन करके बसाता है। उसके हाथ, पैर, नाक, कान आँख, इत्यादि कुछ भी नहीं हैं, परन्तु सर्ववर्धमान होने के कारण सब कुछ करता है, परन्तु फिर भी किसी कर्म में फँसता नहीं। इसी लिये कहा है—

अर्धेन्द्रिषुचामाहं, अर्धेन्द्रिषुचिर्निमित्तम् ।

यदि कहें कि वह हमको दिखाई क्यों नहीं देता; तो इसका उत्तर यही है कि ये चमड़े की आंखें जो परमात्मा ने हमको दी हैं, सिर्फ दृश्य जगत को देखने के लिये दी हैं। सो पूरा पूरा दृश्य जगत् भी हम इनसे नहीं देख सकते। अपनी आँख में लगा हुआ अजन और सिर का ऊपरी भाग तथा बहुत सा चेहरा भी हम अपना इन आंखों से नहीं देख सकते। सूक्ष्म जन्तु जो हवा में उड़ते रहते हैं, उनको हम नहीं देख सकते। फिर उस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों में व्यापक और जीवात्मा से भी सूक्ष्म परमात्मा को हम इन आंखों से कैसे देख सकते हैं। यहाँ तक कि मन और आत्मा से भी हम उसको नहीं देख सकते—जब तक कि अपने मन और आत्मा को ज्ञान से शुद्ध न कर लें। जैसे शीशे पर मेल जम जाने से उसके द्वारा हम अपना मुख नहीं देख सकते, उसी प्रकार जब तक मन और जीव पर अज्ञान की कोई जकड़ी हुई है, तब तक हम ईश्वर को नहीं देख सकते। ईश्वर को देखने के लिये अपने सब दुर्गुणों को छोड़ना पड़ेगा। न्याय, सत्य, दया, परोपकार, अहिंसा, इत्यादि दिव्य गुणों को पूर्णरूप से धारण करना पड़ेगा। सब ईश्वरीय सद्गुणों को जब हम अपनी आत्मा में धारण कर लें, तब वह हमको अपने अन्दर स्वयं ही दिखाई पड़ने लगेगा। क्योंकि उसको देखने के लिये कहीं जाना थोड़ा ही है—वह तो समीप जगह है। हमारी आत्मा में आप प्रकाशित है, पर आत्मा मलीन होने के कारण वह हमको दिखाई नहीं देता। योगी लोग तप और सत्य से आत्मा को परिमार्जित करके सदा उसको देखते हैं। उपनिषद् में कहा है.—

समाधिनिधूतमलस्य चेतसो

निवेशितस्यात्मनि यत्सर्वं भवेत् ।

न शयते कर्णपितुं मितं तदा

इवमन्तर्गतकरणेन गृह्यते ॥

अपविष्ट

जो योग्याभ्यास के द्वारा अपने चित्त के भ्रान्तावाधि सब में से घटा देता है, और अपनी आत्मा में ही स्थिर होकर फिर उस शुद्ध चित्त को परमात्मा में लगाता है, उसको जो अपूर्व सुख होता है, वही पाप्मी-द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस परम आनन्द को तो जीवात्मा अपने मत्तकरण में ही अनुभव कर सकता है।

योग्याभ्यास से समाधि में परमात्मा का दर्शन करने के लिये मनुष्य को योगशास्त्र में कछाये हुए यम नियम दोनों का साथ ही साथ अभ्यास कर लेना होता है, क्योंकि जब तक इन यमों और नियमों का पूर्ण रूप से साधन नहीं कर लिया जाता, तब तक चित्त की वृत्ति प्रकाश नहीं होती और न योगसिद्धि होती है। यम पांच हैं —

यमो हि साधनस्तो यमोऽप्यविरिषहा कमा ।

बोध्यार्थः ।

(१) बहिषा अर्थात् किसी से बैर न करे, (२) सत्य बोले, सत्य माने सत्य काम करे, असत्य का व्यवहार कभी न करे। (३) परधन और परस्त्री की इच्छा न करे, (४) ब्रह्मचर्य—अतिशुद्ध हो इन्द्रियसम्पर्क न हो, (५) अपचिन्त—सब प्रकार का अविमर्श छोड़ देवे। इसी प्रकार पाँचों नियम हैं —

श्रीकण्ठोपनिषद्वाज्ज्वालेष्वप्यभिवावाभि निष्कमा ।

बोध्यार्थः ।

(१) रागद्वेष छोड़कर भीतर से, और जलादि द्वारा बाहर से शुद्ध रहे, (२) धर्मपूर्वक पुरुषार्थ करनेमें जो लाभ-हानि हो, उसमें हर्ष-शोक न मनावे, सदा सन्तुष्ट रहे, (३) सुषुप्त का सहन करते हुए धर्माचरण करते रहे, (४) सदा सत्य शास्त्रोंको पढ़ता-पढ़ाता रहे, और सत्पुरुषों का सग करे, (५) ईश्वर-प्रणिधान—अर्थात् परमात्माके सर्वोत्तम नाम “ओ३म्” का अर्थ विचार करके इसी का जप किया करे, और अपने आपको परमात्माके आज्ञानुसार सब प्रकार से समर्पित कर देवे।

इन यम और नियमों का जब पहले मनुष्य, साथ ही साथ, अभ्यास कर लेता है, तब उसे अष्टांगयोग की सिद्धि क्रमशः होती है। योग के आठ अंग इस प्रकार हैं —(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान (८) समाधि। यम और नियमों का ऊपर वर्णन हो चुका है। इनके बाद आसन है। आसन चौरासी प्रकार के हैं, पर मुख्य यही है कि जिस बैठक से मनुष्य स्थिरता के साथ और सुखपूर्वक बैठा रहे, उसी का साधन करे। फिर प्राणायाम अर्थात् श्वास के लेने और छोड़ने की गति के नियमन करने का अभ्यास करे। इसके बाद प्रत्याहार—अर्थात् इन्द्रियों और मन को सब बाहरी विषयों से हटाकर आत्मा में स्थिर करने का अभ्यास करे। फिर धारणा—अर्थात् अपनी आत्मा को भीतर परमात्मामें स्थिर करने का अभ्यास करे। इसके बाद ध्यान—अर्थात् स्थिर हुई आत्माको बराबर परमात्मा में कुछ समय तक रखने का अभ्यास करे। फिर समाधि—अर्थात् आत्मा को परमात्मामें पूर्णतया बराबर लगाने का अभ्यास करे। अर्थात् जितनी देरतक चाहे, ईश्वर में स्थित रहे। उसका दर्शन किया करे। ऐसी दशा में मनुष्यको ईश्वर

अर्थात् इच्छा—पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा। द्वेष—दुःसादि की अनिच्छा या वैर। प्रयत्न—बल या पुरुषार्थ। सुख—आनन्द। दुःख—विलाप या अप्रसन्नता। ज्ञान—विवेक या भले बुरे की पहचान। ये लक्षण जीवात्मा के न्यायशास्त्र में बतलाये गये हैं।

वैशेषिक दर्शन में जीवात्मा के निम्नलिखित विशेष गुण बतलाये हैं —

प्राण—प्राण को बाहर से भीतर को लेना। अपान—प्राण-वायु को बाहर को निकालना। निमेष—आख को मीचना। उन्मेष—आख खोलना। मन—निश्चय, स्मरण और अहंकार करना। गति—चलने की शक्ति। इन्द्रिय—सर्वविषयों को ग्रहण करने की शक्ति। अन्तरविकार—क्षुधा-तृप्ता हर्य-शोक, इत्यादि द्वन्द्वों का होना।

इन्हीं सब लक्षणों से जीव की सत्ता जानी जाती है। जब तक ये गुण शरीर में रहते हैं, तभी तक समझो कि जीवात्मा शरीर के अन्दर है, और जब जीवात्मा शरीर को छोड़कर चला जाता है तब ये गुण नहीं रहते।

उपर्युक्त इष्ट-अनिष्ट गुणों के कारण ही जीव कर्म करने में प्रवृत्त होता है। कर्म करने में जीव बिल्कुल स्वतन्त्र है। जैसा मन में आवे, बुरा-मला कर्म करे। परन्तु फल भोगने में वह परतन्त्र है। अर्थात् फल का देनेवाला ईश्वर है। जीव को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने मन के अनुसार फल भोगे। यदि वह बुरा कर्म करेगा, तो बुरा फल बाध्य होकर उसको भोगना ही पड़ेगा। चाहे वह इस जन्म में भोगे, चाहे पर-जन्म में। ईश्वर जीव के कर्मों का साक्षी मात्र है। वह देखता रहता है कि इसने ऐसा कर्म किया, और जीव जैसा कर्म

करता है, उसके अनुसार ही वह उसको फल देता है। इससे ईश्वर न्यायकारी है। जीव भी ईश्वर का यह सम्बन्ध प्राग्भेद में इस प्रकार प्रकटित किया है :—

इहं धर्मो धनुर्वा धन्वावा समाधं बृहं परिचक्षतात । ज्योत्स्न
विष्णोर्वाहुरक्षयन्मन्त्रो अविद्याकपीति ॥

अथवा

यही मंत्र उपनिषदों में भी आया है। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर और जीव दोनों (पक्षों) 'सुपर्व' अर्थात् श्रेष्ठता और पाण्डनादि गुणों में सङ्गुत है। 'संयुक्ता' अर्थात् व्याप्य और व्यापक भाव में संयुक्त है, 'सन्नाया' परस्पर सन्नायक से सन्नायक और अन्नादि है, और वेसी ही अन्नादि प्रकृतिक्रम बृह पर वे दोनों पक्षी बैठे हुए हैं, परन्तु हमें से एक, अर्थात् जीव, सब बृह के पापपुण्यद्वय फलों को भोगता है, और दूसरा (परमात्मा) उनको भोगता नहीं है, किन्तु बायें ओर से मंतर बाहर प्रकाशमान हो रहा है। अर्थात् जीव के कर्म-फल-भोग का साक्षी है। इस मंत्र में ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों की मिश्रता अर्द्धकारक से स्पष्ट कटका दी गई है। गीता में भी तीनों का इस प्रकार कटौत किया है :—

इतिमौ कुर्वौ लोके कृतकामकृत् एव च ।

एतः कर्माणि भूयानि कृत्वात्मकं च कर्म ॥

वचनः कृतकर्मणः कर्मात्म्येऽनुपपद्यते ।

नो लोकजन्माधिक्यं विमर्शज्जन्त ईश्वरा ॥

गीता अ १९

सम्पूर्ण सृष्टि में दो शक्तियाँ हैं—एक परिवर्तकशील अर्थात् वायनात् और दूसरा मजिनाशी। वायनात् में तो सब मृत

अर्थात् पंचभूतात्मक जड़ प्रकृति आ जाती है, और अविनाशी जीव कहलाता है। परन्तु इन दोनों से भी श्रेष्ठ एक शक्ति है, जो परमात्मा के नाम से जानी जाती है। वह अविनाशी ईश्वर तीनों लोक में व्याप्त होकर सबका भरण-पोषण और पालन करता है।

जीव को यह ज्ञान होना चाहिए कि परमात्मा सब जगह व्याप्त होते हुए, हमारी आत्मा में भी है, और यही ज्ञान सच्चा ज्ञान है। महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी से कहते हैं —

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्वरोपमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् ।
आत्मनोन्वरोपमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

बृहदारण्यक

अर्थात् हे मैत्रेयी, जो सर्वव्यापक ईश्वर आत्मा में स्थित है और उससे भिन्न है, (अर्थात् अज्ञान के कारण जिसको जीव भिन्न समझता है)—मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मुझमें व्यापक है। जिस प्रकार शरीर में जीव व्यापक है, उसी प्रकार वह जीवमें व्यापक है—अर्थात् यह जीव ही एक प्रकार से उसका शरीर है। वह परमात्मा इस जीवात्मा से भिन्न रहकर—अर्थात् इसमें न फँसता हुआ, इसके पापपुण्यों का साक्षी और फलदाता होकर जीवों को नियम में रखता है। हे मैत्रेयी, वही अविनाशी स्वरूप तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा है—अर्थात् तेरे भीतर भी वही व्याप्त हो रहा है। उसको तू जान।

यह जीवका स्वरूप, और जीवात्मा का परमात्मा से सम्बन्ध, संक्षेप में बतलाया गया।

सृष्टि

सृष्टि का वर्णन करने के पहले यह देखना चाहिए कि सृष्टि किन कारणों से उत्पन्न हुई है। जब कोई कार्य होता है, तब उसका कोई न कोई कारण अवश्य होता है। बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। कारण उसको कहते हैं, जिससे कोई कार्य उत्पन्न होता है। कारण भी तीन प्रकार का है। एक निमित्त-कारण। वृक्ष उपादान-कारण। तीसरा साधारण निमित्त-कारण। निमित्त-कारण "करनेवाला" कहलाता है। और उपादान-कारण वह कहलाता है कि जिस चीज से वह कार्य बने। और तीसरा साधारण निमित्त वह कहलाता है जिसके द्वारा बने। जैसे घड़ा बनाया गया। जब घड़ा तो कार्य हुआ और जिसने घड़ा बनाया वह कुम्हार निमित्त-कारण हुआ। और जिससे घड़ा बना वह मिट्टी उपादान-कारण हुई। और जिसके द्वारा घड़ा बनाया गया, वह कुम्हार का हथौड़ा और श्यामि साधारण-कारण हुआ। इसी प्रकार सृष्टिरचना ओ एक कार्य है, उसके भी तीन कारण हैं। एक मुख्य निमित्त कारण परमात्मा ओ प्रकृति (उपादान-कारण) की सामग्री से सृष्टि की रचना, पालन करता और प्रलय करता है। दूसरा साधारण निमित्त जीव ओ पर्योम्पर की सृष्टि में से पदार्थों को छेकर मनेक प्रकार के कार्यान्तर करता है, और तीसरा उपादान-कारण प्रकृति, ओ स्वयं सृष्टि-रचना की सामग्री है। यह अड़ होने के कारण स्वयं न बन सकती है, और न बिगड़ सकती है। यह दूसरे के कानों से बनती और बिगाड़ने से बिगाड़ती है।

इन तीन कारणों में से दो कारणों, अर्थात् ईश्वर और जीव के सक्षित स्वरूप का वर्णन पीछे हो चुका है। अब यहां तीसरे कारण—उपादान-कारण—प्रकृति का स्वरूप बतलाने के बाद सृष्टि के विषय में लिखेंगे। हम कह चुके हैं कि ईश्वर में सत्-चित् + आनन्द, तीन लक्षण हैं, जीव में सिर्फ सत् और चित् दो ही हैं, आनन्द नहीं है। अब प्रकृति को देखिये, तो उसमें एक ही लक्षण, अर्थात् 'सत्' है। सत् का अर्थ बतला चुके हैं कि जो अनादि है, जो किसी से उत्पन्न नहीं हुआ, और जो सदैव बना रहेगा, कभी नष्ट नहीं होगा। यह लक्षण प्रकृति में भी है—यह बन-विगड भले ही जाय, किन्तु इसका अभाव कभी न होगा। रूपान्तर से रहेगी अवश्य। प्रलय हो जाने के बाद भी अपने सूक्ष्म रूप में रहेगी। इस का नाम सत् या अनादि है। भगवान् कृष्ण भी गीता में यही कहते हैं —

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्वज्जनादी उभावपि ।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥

गीता, अ० १३

प्रकृति और पुरुष (जीव) दोनों को अनादि, अर्थात् अविनाशी, जानो। हा, सृष्टि में जो विकार और गुण, अर्थात् तरह तरह के रूपान्तर, दिखाई देते हैं, वे प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। जीव इन रूपान्तरों में फँसा रहता है, परन्तु ईश्वर निर्लेप है —

अजामेका लोहितशुक्लकृष्णा बह्वी प्रजा सृजमाना स्वरूपा । अजो
श्चेको शुपमानोऽनुपेते जहात्येना मुक्त भोगामजोऽन्य ॥

—श्वेताश्वरोपनिषद्

एक अज (अनादि) त्रिगुणात्मक सृष्टि बहुत प्रकार से रूपान्तर

का प्राप्त होती है। एक मज्ज* (जीव) इसका भोग करता हुआ फैलता है, और एक अन्य मज्ज (ईश्वर) न फैलता और न भोग करता है। अस्तु।

ईश्वर और जीव का लक्षण भस्मग भस्मग कल्ला बुके है। अब यहां सृष्टि के तीसरे कारण प्रकृति का लक्षण पठ्ठाते हैं —

उत्तरकल्लमसां साम्वाकस्या प्रकृतिः।

संस्कृतम्

सत्त्व भर्षात् शुद्ध, रज्ज भर्षात् मध्य और तम भर्षात् अङ्गता, इन तीनोंकी साम्वाकस्या को प्रकृति कहते हैं। भर्षात् ये तीनों वस्तुएँ मिश्रकर जो एक संघात है, उसी का नाम प्रकृति है।

इस प्रकार ईश्वर, जीव और प्रकृति यही तीन इस जगत् के कारण हैं। मुख्य निमित्त-कारण ईश्वर है। उसी के ईक्षण या प्रेरणा से प्रकृति जगत् के आकार में आती है। यही निराकार ईश्वर, जो सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव और प्रकृति के अन्दर भी व्याप्त रहता है, अपना स्वामाविक शक्ति, ज्ञान बल और क्रिया से प्रकृति को स्पृहाकार में छाता है। सृष्टि, उत्पत्ति के समय, प्रकृति से स्पृहाकार में किस प्रकार आये लगती है —

प्रकृतमहात् महतोऽर्धकरोऽर्धकरात् पञ्चकल्पावाप्तुमवमिन्निव पंचकल्पात्तेन्याः पञ्चभूतानि पुनर इति पंचमिद्विति पञ्च।

संस्कृतम्

सृष्टिरब्जमा की प्रथम अवस्था में पञ्च सूक्ष्म प्रकृतिकरूप कारण से जो कुछ स्पृह होता है उसका नाम महत्तत्त्व या बुद्धि

* जीव करीबों भाकर जन्म लेता और मूछा है; पर मूछा नाब है, वह किसी से पैदा नहीं हुआ है, अनादि है, अक्षय्य है इसलिये जन्म कहा है।

है। उससे जो कुछ स्थूल होता है, उसका नाम अहकार है। अहकार से भिन्न भिन्न पाच सूक्ष्मभूत हैं। इन्हीं को पंचतन्मात्रा कहते हैं। यह पाचों भूतों का—अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश का—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध के रूप में आभास मात्र रहता है। फिर अहकार ही से पाच ज्ञानेन्द्रिया और पाच कर्मेन्द्रिया, तथा ग्यारहवा मन भी होता है। ये सब इन्द्रिया भी आभासमात्र रहती हैं। ऐसी स्थूल नहीं रहतीं, जैसी हम शरीर में देखते हैं। अस्तु। फिर उपर्युक्त पंचतन्मात्राओं अर्थात् सूक्ष्म पंचभूतों से, अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त होते हुए ये स्थूल पंचभूत उत्पन्न होते हैं, जिनको हम देखते हैं। स्थूल प्रकृति से लगाकर स्थूल भूतों तक ये सब चौबीस तत्व हुए। पञ्चोत्तरा पुरुष, अर्थात् जीव है। इन्हीं सब को मिलाकर ईश्वर ने इस स्थूलसृष्टि को रचा है।

अस्तु। स्थूलपंचमहाभूतों के उत्पन्न होने के बाद नाना प्रकार की ओषधिया, वृक्ष लता-शुल्मादि, फिर उनसे अन्न अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर होता है। पहले जो शरीर निर्माण होते हैं, उनमें ऋषियों की आत्मा प्रविष्ट होती है। ये अमैथुनी सृष्टि से उत्पन्न होते हैं। परमात्मा अपना ज्ञान, 'वेद' इन्हीं के द्वारा सम्पूर्ण मनुष्यजाति के लिए प्रकट करता है। फिर क्रमशः अन्य स्त्री-पुरुषों के उत्पन्न होने पर मैथुनी सृष्टि चलती है। यह भूलोक की उत्पत्ति का वर्णन है। इसी प्रकार परमात्मा अन्य सब लोकों की सृष्टि करता है —

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।

विधं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्व ॥

ऋग्वेद

अर्थात् परमात्मा जिस प्रकार से कल्प कल्प में सूर्य, चन्द्र, धौ,

भूमि, अन्तरिक्ष और इनमें रहनेवाले पदार्थों को रचता माया है, वैसे ही इस सृष्टि-रचना में भी ऐसे हैं। इस प्रकार यह सृष्टि प्रधाह से बनावि है। अनादिकाक से ऐसी ही कतती विपकृती उत्पन्न होती और प्रलय होती हुई बली जाती है। परमात्मा जिस प्रकार से सृष्टि को दृश्य आकार में छाता है, इसका एक बहुत सुन्दर दृष्टान्त मुण्डकोपनिषद् में दिया है —

कूर्वाणमिह सृजते पृथुते च ।

मुण्ड ।

अर्थात् जैसे मकरी अपने अन्दर से ही छलु निकालकर आका तनती है, और कज्ज बसमें बेलती है, और फिर इसको समेट भी लेती है, उसी प्रकार परमात्मा इस जगत् को प्रकट करने इसमें बेल रहा है, और प्रलय के समय इसको समेट लेता है। इसका तात्पर्य यही है कि ईश्वर के अन्दर प्रकृति और जीव व्याप्यरूप से पहले से ही परमान रहत है, और जब ईश्वर सृष्टि की रचना करना चाहता है, तब अपने सामर्थ्य से उनको स्वरूप में छाता है, और आप फिर सम्पूर्ण सृष्टि में भीतर-बाहर व्यापक रहता है, सब का मरण-योपन पाछम और नियमन करता है, और फिर कल्प के अन्त में अपने अन्दर विछीन कर लेता है —

सर्वभूतानि कूर्वाणोऽव प्रकृतिं शान्तिं मामिच्छन् ।

अनल्पमे पुनस्तापि कल्पायै विभुताम्बहम् ॥

गीता अ १ ।

अर्थात् कल्प के नाश होने पर प्रलय होने पर, सम्पूर्ण सृष्टि परमात्मा में सोन हो जाती है, और कल्प के आदि में अर्थात् जब फिर सृष्टि-रचना होती है, तब फिर ईश्वर सब को उत्पन्न करता है। ऐसा ही बकर लगा रहता है। यह चित्तचिन्ता कभी

चन्द नहीं होता। अब प्रश्न यह होता है कि जब एक बार सृष्टि सहार हो गया, तब से लेकर और जब तक फिर सृष्टि नहीं रची जाती, तब तक क्या हालत रहती है। मनु भगवान् इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं —

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।

अप्रतर्क्यमविज्ञेय प्रष्टुमिष सर्वत ॥

मनु०

सृष्टि के पहले सम्पूर्ण विश्व अन्धकार से आच्छादित था, और प्रलय के बाद भी वैसा ही हो जाता है। उस समय इसकी जो हालत रहती है, वह जानी नहीं जा सकती। उसका कोई लक्षण नहीं दिया जा सकता, और न अनुमान किया जा सकता है। चारों ओर सुम्गुम् प्रसुप्त अवस्था सी रहती है। अन्धकार भी ऐसा नहीं रहता, जैसा हमें इन आँखों से दिखाई देता है। बल्कि वह एक विलक्षण दशा रहती है। एक परमात्मा और उसमें व्याप्य-व्यापक भाव से प्रकृति और जीव रहते हैं। और किसी प्रकार का आभास, जिनकी हम कल्पना कर सकते हैं, उस समय नहीं रहता।

इस पर एक प्रश्न यह भी उठ सकता है कि ईश्वर सृष्टि की रचना क्यों करता है? इसका उत्तर यही है कि यदि ईश्वर सृष्टि की रचना न करे, तो उसका सामर्थ्य सब जीवों पर कैसे प्रकट हो, और जीव जो पाप-पुण्य के बन्धन में सदैव काल से बँधे रहते हैं, उनको कर्मों का भोग करने के लिये भी कोई मौका न मिले, वे सदैव सोते हुए ही पड़े रहें। बहुत से पवित्र आत्मा मुक्ति का साधन करके मोक्ष का आनन्द ले सकते हैं। सो यह आनन्द भी सृष्टि-रचना के बिना उनको नहीं मिल सकता। परमेश्वर में जो ज्ञान, बल और क्रियाशक्ति स्वाभाविक

ही है उसका उपयोग वह सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय व्यवस्था में ही कर सकता है। इसी ही बात में तो परमात्मा परमेश्वर है। अपने नियमों में वह भी रूपा हुआ है। सृष्टिरचना से ही परमात्मा का सामर्थ्य और कला-कौशल प्रकट होता है। एक शरीर-रचना को ही ले लीजिए। मीटर इन्चों के जोड़, नाड़ियों का कथन मांस का डीपन कपड़ों का डकन, प्लीहा मूत्र, फेफड़ा, हृदय की गति, जीवकी संयोजना सिर का सारे शरीर की नाड़ियों से पिकक्षण सम्बन्ध, रोम, मण्ड, इत्यादि का स्थाय मांस की असक्त सूक्ष्म मस का तार के समान प्रत्यक्ष इन्द्रियों के भागों का प्रकाशन, जीवकी जायति, रुग्ण, सुसुप्ति, तुरीय इत्यादि अवस्थाओं के भोगने का प्रकट, शरीर की सब धातुओं का विमात्रीकरण इत्यादि ऐसी बातें हैं जिनका सिर्फ तनिक विचार करले से ही परमात्मा के कलाकौशल पर आश्चर्यचकित होना पड़ता है।

इसी प्रकार से और सम्पूर्ण सृष्टि को देख लीजिये। नाना प्रकार के रसों और चमकीली धातुओं से परिपूर्ण मूत्र, विविध प्रकार के कटवृक्ष के समान सूक्ष्म बीजों से भरी रचना, इन्द्रिय, श्वेत, पीत कृष्ण इत्यादि विचित्रविचित्र रंगों से युक्त पत्र पुष्प फल, फुल, मूल, इत्यादिकी रचना फिर उनमें सुगन्धि की संयोजना, मिष्ट, हार, कटु, कषाय तिक्त, मल्ल, इत्यादि छै रसों का निर्माण, वृष्णी, बभ्रु, सूर्य, नक्षत्र, इत्यादि धनेक गोळा का निर्माण, उनकी नियमित गतिविधि, इन सब बातों से परमेश्वर की अद्भुत सत्ता प्रकट होती है।

नास्तिक लोग कहती हैं कि यह तो सब प्रकृति का गुण है। परन्तु प्रकृति अज्ञ है। उसमें चेतन्य शक्ति नहीं। आप से आप वह यह सब रचना नहीं कर सकती। परमेश्वर के ईश्वर या

उसकी प्रेरक शक्ति से ही यह सब अजीब सृष्टि हुई है, होती रहती है, और ऐसी ही होती जायगी। इस सुन्दर सृष्टि के निर्माण-कौशल से ही इसके निर्माता की शक्ति का पता चलता है, और आस्तिक ईश्वरभक्त इसको देखकर, उसकी अनुपम सत्ता का अनुभव करके, उसकी शक्ति में मग्न हो जाता है। वेद कहते हैं —

इयं विसृष्टिर्यत आ वभूव यदि वा दधे यदि वा न । यो अस्याध्यक्ष
परमेव्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ।

—ऋग्वेद

हे अङ्ग, जिससे यह नाना प्रकार की सृष्टि प्रकाशित हुई है; और जो इसका धारण और प्रलय करता है, जो इसका अध्यक्ष है, और जिस व्यापक में यह सब जगत् उत्पत्ति, स्थिति और लय को प्राप्त होता है, वही परमात्मा है, उसको तुम जानो, और दूसरे किसीको (जड़ प्रकृति आदि का) सृष्टिकर्त्ता मत मानो। उपनिषद् भी यही कहते हैं —

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्य-
मिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासत्स्व तद्वब्रह्म ।

—तैत्तिरीयोपनिषद्

जिस परमात्मा से यह सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई है, जिसमें यह जीवित रहती है; और जिसमें फिर लय को प्राप्त हो जाती है, वही परब्रह्म परमात्मा है। उसको जानने की इच्छा करो।

पुनर्जन्म

जीव भविनामा और चेतन होने पर भी इच्छा द्वेष, प्रयत्न, दुःख पुःख, ज्ञान इत्यादि के वश कर्मों में फँसा रहता है, और कर्म ही उसके पुनर्जन्म के कारण होते हैं। कर्म का समुपनिषद् गीता में इस प्रकार दिया है —

सुखमाबोद्धमन्करो मित्कर्मा कर्म संश्लिष्य ॥

गीता अ ८

प्राणियों की सत्ता को उत्पन्न करनेवाली विविध रचना को कर्म कहते हैं। कर्म त्रिगुणसम्बन्ध प्रकृति से उत्पन्न होता है, और प्रकृति में फँसकर ही जीव कर्म करता हुआ कर्मबन्ध में प्राप्त होता है, और उत्तम मध्यम नीच योगियों जाता है —

दुःखं प्रकृतिज्ये हि शुद्धं प्रकृतिवद् गुणैः ।

कारणं गुणसंयोगेन संकटबोधिरनृतम् ॥

गीता अ १३-१४

प्रकृति में उत्पन्न हुआ जीव प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले सत्त्व, रज, तम गुणों का भोग करता है, और इन गुणों का संयोग ही उसके कर्म-योगियों में जन्म होने का कारण है —

सत्त्वज्जलतम इति गुणैः प्रकृतिजन्मनाः ।

निवर्तन्ति महाबाहो ये रक्षितवन्त्यम् ॥

गीता अ १४-१५

सत्त्व रज तम ये प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले तीनों गुण ही इस भविनामा जीवसत्त्वा को देह में बाँधते हैं, अर्थात् बार बार जन्म लेने को बाध्य करते हैं। इससे सिद्ध है कि जो मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही जन्म पाता है :—

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वञ्च राजसा ।

तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येपा त्रिविधा गति ॥

मनु०, अ० १२-४०

सतोगुणी कर्म करनेवाले देवत्व को पाते हैं, अर्थात् ज्ञान के साथ उत्तम सुख का भोग करते हैं। रजोगुणी कर्म करनेवाले मनुष्यत्वको पाते हैं, अर्थात् रागद्वेष के साथ सुख-दुख का भोग करते हैं तथा जो तमोगुणी कर्म करते हैं, वे मनुष्येतर वृक्ष, पशु, पक्षी, कीट-पतंगादि नीच योनियों में जाते हैं। इसी प्रकार जीव को कर्मानुसार सुख-दुख प्राप्त होता है।

ससार में देखा जाता है कि कोई मनुष्य विद्वान्, धनी और सुखी है, और कोई मूर्ख, दरिद्री और दुखी है। यह सब उसके पूर्वजन्म के पाप पुण्य-कर्मानुसार उसको सुख-दुख मिला है, और इस जन्म में जैसा वह कर रहा है, उसके अनुसार उसको अगले जन्म में फल मिलेगा। फिर भी कुछ कर्म ऐसे होते हैं कि जिनका फल जीव को इसी जन्ममें मिल जाता है, और कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनका फल हमको इस जन्म में कुछ भी दिखाई नहीं देता; और कुछ कर्म ऐसे हैं कि जिनको हम प्रत्यक्ष कुछ नहीं कर रहे हैं, और अनायास हमको फल मिल रहा है। इस प्रकार जीव के कर्म के तीन भेद किये गये हैं —

संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। संचित कर्म वे हैं कि जो पूर्व जन्मों के किये हुये हैं; और उनके सस्कार बीजरूप से जीव के साथ रहते हैं। प्रारब्ध वह है कि जिसको जीव इस जन्म में अपने साथ भोगने के लिए ले आता है, और उस प्रारब्ध में से जिस भाग को वह इस जन्म में भोगने लगता है,

उसका क्रियमाण्य कहते हैं। इससे ज्ञान बढ़ता है कि जीव के साथ कर्म का सम्बन्धितता लगा ही रहता है, और अत्यन्त ज्ञान से उसके कर्मों का भाग न मिल जाये, और अत्यन्त यह विस्मय वास्तव्यारहित न हो जाये, तब तक उसका बार बार जन्म लेना पड़ेगा।

यह ध्यान में रहे कि कर्मयानि मनुष्य ही का जन्म है, और मनुष्येतर पशुपक्षी इत्यादि जो चौरासी छात्र यानि हैं वे सब भोगयोनियाँ हैं। उन योनियों में जीव को ज्ञान नहीं रहता। सिर्फ पूर्वकृत पापकर्मों का यह भाग कष्टा है। फिर जब मनुष्य योनि में जाता है, तब उसके साथ ज्ञान और विवेक होता है जिसके द्वारा वह भले-बुरे कर्मों का ज्ञान करके भले कर्मों के द्वारा उत्तम गति और बुरे कर्मों के द्वारा अधम गति प्राप्त करने में सफल हो जाता है। जिस मार्ग से जाने की उसकी इच्छा हो वह जाये। इसीलिए कहते हैं कि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र और उसका फल भोगने में परतन्त्र है।

मनुष्य का जीव हो, और बाहे पशु-पक्षी का जीव हो—जीव सब का एक सा है। मन्तर केवल इतना है कि एक जीव पाप-कर्मों के कारण मर्त्य और दूसरा पुण्यकर्मों के कारण पवित्र होता है। मनुष्य शरीर में जब जीव पाप अधिक करता है, और पुण्य कम करता है, तब वह पशु भावि मीन शरीरों में जाता है, और जब पुण्य अधिक और पाप कम होता है, तब वैश्वयोनियाँ मर्त्यात् विद्यान्, धार्मिक, ब्राह्मी का शरीर मिलता है, और जब पाप-पुण्य बराबर होता है तब साधारण मनुष्य का शरीर मिलता है। इसी प्रकार श्री-अन्य पाकर यदि जीव, पुण्योन्निष्ठ उत्तम पुण्यकर्म करता है तो वैश्वयोनियों से पुण्ययोनियों में जाता है।

पापपुण्य-कर्मों में भी उत्तम, मध्यम और निकृष्ट श्रेणियाँ हैं। कोई पुण्यकर्म उत्तम श्रेणी का होता है, कोई मध्यम या नीच श्रेणी का। इसी प्रकार पाप की भी तीन कोटियाँ हैं। इन्हीं कोटियों के अनुसार मनुष्यादि में उत्तम-मध्यम-निकृष्ट शरीर मिलता है। कर्मानुसार जन्म के अनेक भेद शास्त्रों में चतलाये गये हैं।

जब जीव का इस स्थूल शरीर से संयोग होता है, तब उसको जन्म कहते हैं, जब इससे जीव का वियोग हो जाता है, तब उसको मृत्यु कहते हैं। इस स्थूल शरीर को छोड़ने के बाद जीव सूक्ष्म शरीर से वायु में रहता है, और अपनी मृत्यु समय की तीव्र वासना के अनुसार जहाँ चाहता है, वहाँ जाता-आता रहता है। फिर, कुछ समय बाद, धर्मराज परमात्मा उसके पाप-पुण्य के अनुसार उसको जन्म देता है। जन्म लेनेके लिए वह वायु, अन्न, जल, अथवा शरीर के छिद्र-द्वारा दूसरे शरीर में, ईश्वरकी प्रेरणा से, प्रवृष्ट होता है, और फिर क्रमशः धीरे-धीरे जाकर, गर्भ में स्थित हो, शरीर धारण करके बाहर आता है।

जीवात्मा के चार शरीर होते हैं। (१) स्थूल शरीर—जिसको हम देखते हैं, (२) सूक्ष्म शरीर—यह शरीर पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि, इन सत्रह तत्वों का समुदायरूप होता है। यह शरीर मृत्यु के बाद भी जीव के साथ रहता है, (३) कारण शरीर—इसमें सुषुप्ति, अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है। यह शरीर प्रकृतिरूप होनेके कारण सर्वत्र विभु (व्यापक) और सब जीवों के लिए एक माना गया है, (४) तुरीय शरीर—इसी शरीर के द्वारा जीव समाधि से परमात्मा के आनन्दस्वरूप में मग्न होते हैं। इस जन्म में जीवन्मुक्तपुरुष इसी शरीरके द्वारा ब्रह्मानन्द का भोग करते हैं,

और शरीर छोड़ने पर भी परमात्मा में छीन रहते हैं। सब अस्वस्वों का त्याग करके और कुछ विषय कर्मों का चारण करके मनुष्य उक्त शरीर की अवस्था का विकास अपने अन्दर करता है; और जन्म-मरण से मुक्तताया पाकर निर्वाण पर्यं प्राप्त करता है। वहाँ पर सांसारिक सुख-दुख नहीं है, एक ऐसे आनन्द का अनुभव है जो बतलाया नहीं जा सकता।

मोक्ष

मोक्ष या मुक्ति मूढ़ ज्ञानीको कहते हैं। जीवात्मा को जन्म मरण इत्यादि के बन्ध में पड़ने से जो तीन प्रकार के दुःख होते हैं उनसे मुक्तकर सबंध प्रज्ञानानन्दका भोग करना ही मोक्षप्राप्ति कहलाता है। भगवान् कपिल मुनि अपने सांख्यशास्त्र में कहते हैं —

अथ त्रिविधदुःखात्कणमिदुश्चिरकल्पदुःखार्थः ।

सांख्यदर्शन

तीन प्रकार के दुःखों से विमुक्त ही विमुक्त हो जाता, यह जीव का सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। तीन प्रकार के दुःख कौन हैं ?

(१) भाष्यारिक्त दुःख—जो शरीर-सम्बन्धी दुःख अपने अन्दर से ही उत्पन्न होते हैं; (२) भाषिमीलित दुःख—जो दूसरे प्राणियों या बाहरके अन्य पदार्थों से जीव को दुःख मिलता है; (३) भाषिद्वैलित—अतिवृष्टि, अतिताप, अतिशीत, इत्यादि दैविक कारणों से, मन और इन्द्रियों की संयमता के

कारण, जीव जो दुःख पाता है, उसको आधिदैविक दुःख कहते हैं। इन सब दुःखों से छूट जाने का नाम मोक्ष है।

मोक्ष किस प्रकार से प्राप्त हो सकता है ? मोक्ष ज्ञान से ही मिल सकता है। सृष्टि से लेकर परमात्मा तक सब का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके धर्माचरण करना और अधर्म को छोड़ देना—यही मुक्ति का उपाय है। परमात्मा, जीवात्मा के अन्दर बैठा हुआ, मनुष्य को सदैव धर्म की ओर प्रवृत्त और अधर्म की ओर से निवृत्त किया करता है; परन्तु अज्ञान जीव उसकी प्रेरणा को नहीं सुनता है; और अधर्म में फँसकर जन्ममृत्यु के दुःखों में फँसता है। देखिये, जब कोई मनुष्य धर्मयुक्त कर्मों को करना चाहता है, तब अन्दर से उसको स्वाभाविक ही आनन्द, उत्साह, उमग, निर्भयता इत्यादि का अनुभव होता है, और जब बुरा कर्म करना चाहता है, तब एक प्रकार का भय, लज्जा, सकोच, इत्यादि मालूम होता है। ये परस्पर-विपरीत भावनाएं जीव के अन्दर ईश्वर ही उठाता है, परन्तु जीव उनकी परचा न कर के, अज्ञान से, और का और करता और दुःख भोगता है। इस लिए क्षण क्षण पर अपनी आत्मा के अन्दर परमात्मा की आज्ञा सुनकर ससार में धर्मकार्य करते रहने से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

जितने भी धर्म के कार्य हैं, उनको गीता में दैवी सम्पत्ति कहा गया है —

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः दान्तिरपैशुनम् ।

दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं द्वीरघातम् ॥२॥

तेनैव कृमा वक्ति शौचमजोहो यस्मिन्नाविवा ।

यस्मिन्निव कृमाश्च वैदीमविवाक्यं वाच्यम् ॥१॥

श्लोक ४ ॥ १॥

- १ समय, अर्थात् धर्म के कार्यों में कभी किसी से नहीं उल्टा ।
- २ सत्यसंगुक्ति, अर्थात् जीवन को शुद्ध मार्ग ॥ ही रचना ।
- ३ ज्ञानयोग-अवधमिति, अर्थात् परमात्मा और सृष्टि के ज्ञान का अर्थात् विचार सर्वत्र करते रहना । ४ दान विधादान, अन्नपान इत्यादि ऐसी वस्तुएं सर्वत्र हीमर्हीनों को देते रहना जिससे उनकी कल्याण हो । ५ दम मन को इन्द्रियों के अर्थात् न होने देना । ६ यम, अपने और संसार के कल्याण के कार्य सर्वत्र करते रहना । ७ द्वाध्याय, धर्मात्मियों का अध्ययन करने अपनी बुराइयों को सर्वत्र दूर करते रहना । ८ उप, सत्कार्य में शरीर, मन, वाणी का उपयोग करना और उसमें कष्ट सहते हुए न बचकाना । ९ मार्जव सर्वत्र सरल धर्मात् करना—मन वाणी और आचरण एक सा रहना । १० गर्हिसा किसी प्राणी को किसी प्रकार कष्ट न पहुँचाना । ११ सत्य ईश्वर की आज्ञा के अनुसार मन वक्त कर्म संयमना । १२ अहोष, अपने या दूसरे पर कभी क्रोध न करना । १३ त्याग पुण्यों को छोड़ना और अपने सद्गुणों का संसार के हित में उपयोग करना । १४ शान्ति, दुःख-सुख, हानि-लाभ जीवन-मरण, मित्रा-शत्रुति, यश-अपयश, इत्यादि में चित्त की समावृत्ति को स्थिर रहना । १५ अपेक्षुष्य किसी की मित्रा-शत्रुति अनुचित रूप से न करना । १६ भूतकथा सब प्राणियों पर बराबर दया करना । १७ अहोहृष्टता किसी छात्रा में न पड़ना । १८ मार्जव सर्वत्र मधुरता कोमलता धारण करना । १९ द्वि, कष्टा-मर्षा को कभी न छोड़ना । २० अक्षयकृता, यशकृता न करना, विवेक, यमनीष्टा

धारण करना । २१ तेज, दुष्टता और दुष्टों का दमन करना ; २२ क्षमा, मौका देखकर दूसरों के छोटे-बड़े अपराधों को सहन करते रहना । २३ धृति, धर्म-कार्यों में विघ्न और कष्ट आवें, तो भी धैर्य न छोड़ते हुए उनको पूर्ण करना । २४ शौच, मन और शरीर इत्यादि पवित्र रखना । २५ अद्रोह, किसी से वैर न बाधना । २६ न-अतिमानिता, अर्थात् बहुत अभिमान न करना, परन्तु आत्माभिमान न छोड़ना । ये २६ गुण ऐसे पुरुष में होते हैं, जो दैवी सम्पत्ति में उत्पन्न हुआ है ।

अथ आसुरी सम्पत्ति सुनिये —

दम्भोदपोमिमानश्च क्रोध पाशुष्यमेव च ।

अज्ञान चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥४॥

गीता, अ० १६

(१) दम्भ, झूठा आडम्बर, कपट-छल धारण करना , (२) दर्प, गर्व मद या व्यर्थ की तेजस्विता दिखलाना, जिसको वन्दर-घुडकी कहते हैं , (३) अभिमान, घमण्ड, अकड़वाजी दिखलाना , (४) क्रोध , (५) कठोरता, (६) अज्ञान, यथार्थ ज्ञान न होना , इत्यादि आसुरी सम्पत्ति के लक्षण हैं ।

इन आसुरी सम्पत्ति के लक्षणों को छोड़ने और दैवी सम्पत्ति का अपने जीवन में अभ्यास करने से ही मोक्ष मिल सकता है .—

दैवीसम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।

गीता, अ० १६

दैवी सम्पत्ति मोक्ष का और आसुरी सम्पत्ति बन्धन का कारण मानी गई है । इसलिए दैवी सम्पत्ति का अभ्यास करके जो योगाभ्यास अथवा ईश्वर की भक्ति के द्वारा परमात्मा का

ज्ञान प्राप्त करके उसमें स्थित होता है, वह मोक्ष को पाता है यदि इसी जन्म में ऐसा अभ्यास कर ले, और इसी शरीर के रहते हुए सांसारिक सुखदुखों से दूरकर परमात्मा में मग्न रहे तो उसको जीवन्मुक्त कहते हैं —

अग्नेर्दीप्यते स सोऽयं प्राप्नुवतीत्यभिप्रेक्षयात् ।

अग्नौ सोऽयं दीप्यते केन स पुच्छ स एतौ वयम् ॥

वायुश्चन्द्रोऽन्तरिक्षं परमात्मनश्चन्द्रोऽग्निश्च वा ।

स वायौ चन्द्रमिदं चन्द्रोऽन्तरिक्षमग्निश्च वा ॥

अग्नौ चन्द्रमिदं चन्द्रं चन्द्रमिदं चन्द्रं ॥

अग्निश्चन्द्रं चन्द्रमिदं चन्द्रं चन्द्रमिदं चन्द्रं ॥

गीता अ १

जो पुरुष इस संसार में, शरीर छूटने के पहले ही, काम और क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सह सकता है, वही योगी है, वही मुक्ति है। जो अपने अन्दर ही सुख मानता है, और उसी में रमता है, तथा भात्मा के अन्दर जो प्रकाश है, उसी से जो प्रकाशित है, वह व्यक्ति को प्राप्त होकर उसी में जीव होता है। जिनके पाप शक्तियों से क्षीण हो चुके हैं, जिन्होंने सब द्विधाधर्मों को छोड़ दिया है, अपने आपको जीत लिया है, सम्पूर्ण संसार के बपकार में धरो रहते हैं, वही अपि मोक्ष पाते हैं।

ऐसे जो जीवन्मुक्त हो चुके हैं, उनका शरीर धाँसे बना रहे, चाहे छूट जाय, वे दोनों स्थानों में ब्रह्मानन्द में जीव हैं। अब उनका शरीर छूट जाता है तब भी उनके जीव के साथ जीव की स्थानात्मिक शक्ति विद्यमान रहती है। इसी का नाम परम गति है —

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।

बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमा गतिम् ॥

कठोपनिषद्

जब मन के सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपनी चञ्चलता छोड़ देती हैं, और बुद्धि का निश्चय भी स्थिर हो जाता है, तब उस दशा को परम गति, अर्थात् मोक्ष कहते हैं।

यों देखने में तो जीव किसी एक जन्म में मोक्ष प्राप्त करता है, परन्तु यह एक जन्म का काम नहीं है। अनेक पूर्वजन्मों से मोक्ष के लिए जिसको अभ्यास होता आता है, वही किसी जन्म में मोक्ष प्राप्त करता है। एक जन्म में पुण्य-कर्म करते करते जब जीव मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, तब दूसरे जन्म में फिर वह उसी कार्य को शुरू करता है, और इस प्रकार धर्मान्तरण का प्रयत्न करते हुए अनेक जन्मों में उसको मोक्षसिद्धि होती है —

प्रयत्नाथतमानस्तु योगी सशुद्धकिल्बिष ।

अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परांगतिम् ॥

गीता, अ० ६

बहुत यत्न के साथ जब साधन करता है, तब योगी जिसके पाप कट गये हैं, अनेक जन्म के बाद, सिद्धि प्राप्त करता हुआ परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होता है। उपनिषद् भी यही कहते हैं —

मिथ्यन्ते हृदयग्रंथिदिश्यन्ते सर्वसंशया ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे पराज्वरे ॥

मुण्डकोपनिषद् ।

जब इस जीव के हृदय की अविद्या, या अज्ञानरूपी गाँठ, कट जाती है; और तत्त्वज्ञान से इसके सब सशय छिन्न हो जाते हैं,

तथा जितने बुद्ध कर्म हैं, सब जिस समय क्षय हो जाते हैं, उस समय जितने उस परमात्मा को जो भात्मा के भीतर-बाहर व्याप्त हो रहा है, देखता हैं। यही उसकी मुक्ति की दशा है। मुक्ति की दशा में जीव स्वतन्त्र होकर परमात्मा में वास करता है, और इच्छानुसार सब जगहों में घूम सकता है तथा सब कामनाओं का भोग करता है —

अथ ब्रह्मसम्पन्नं ब्रह्म को वै विहितं गृहार्थं जने ज्योतिम् ।

सोऽव्यक्तो सर्वान्कामाप् च ह भक्त्या विपश्चितेति ॥

तैत्तिरीयोपनिषद्

जो जीवात्मा अपनी बुद्धि और भात्मा में स्थित सत्य ज्ञान और अनन्त भागम्बररूप परमात्मा को जानता है, वह उस व्यापकरूप ब्रह्म में स्थित होकर उस विपश्चित् अर्थात् अनन्त विद्या-युक्त, ब्रह्म के साथ सब कामनाओं को प्राप्त होता है अर्थात् जिस भागम्बर की कामना करता है, उस भागम्बर को पाता है।

मनुष्य-जन्म का यही परम पुण्यार्थ है।



छठवां खण्ड सूक्ति-संचय

“वाग्भूषणं भूषणम्”

—राजर्षि भर्तृहरिः

विद्या

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुक्ते
कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदं ।
लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिम्
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या ॥१॥

विद्या माता की तरह रक्षा करती है, पिता की तरह हित कामों में लगाती है, स्त्री की तरह खेद को दूर कर के मनोजन करती है, धन को प्राप्त कराकर चारों ओर यश फैलाती है। विद्या कल्पलता के समान क्या क्या सिद्ध नहीं करती ? पर्याप्त सब कुछ करती है ॥१॥

स्वयौवनसम्पन्ना विशालकुलसन्मवा ।

विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा वृष किंशुका ॥२॥

रूप और यौवन से सम्पन्न तथा ऊँचे कुल में उत्पन्न हुआ पुरुष बिना विद्या के निर्गन्ध पलास-पुष्प की भाँति शोभा नहीं देता ॥२॥

य पठति लिखति पश्यति परिपृच्छति पण्डितानुपाध्यति ।

तस्य दिशकरकिरणं नलिनीदलमिव विकास्यते बुद्धिः ॥३॥

जो पढ़ता है, लिखता है, देखता है, पूछता है, पण्डितों का साथ करता है, उसकी बुद्धि का इस प्रकार विकास होता है, जैसे सूर्य की किरणों से कमल ॥३॥

केयुरा न विभूषयन्ति पुरा न चन्द्रोज्ज्वला,

न स्नानं न विधेयं न कुसुमं नाल्लक्ष्म्या मूर्धन्ना ।

पाण्डेका समलङ्करोति पुरुषं या संस्पृष्टा धार्यते

दीपन्ते फलं नृषां पितृणां सत्तु पाण्डूणां नृपणम् ॥४॥

आयन-वृत्ता मध्या रर्षा के उज्ज्वल द्वार श्यादि पद
 मने स मनुष्य की शोभा महो, और न स्नान ध्यान, पुण्य
 और वास संचारने से ही उसकी कुछ शोभा है—वास्तव में
 मनुष्य की शोभा सुन्दर और सुनिश्चित बाणो से ही है। अन्य
 सब आभूषण क्षीण हो जात हैं। एक बाणो ही ऐसा भूषण है
 जो सदा भूषण है।

सत्संगति

वाक्य भिन्नो हरति सिन्धवि वापि ध्वं
 माभोग्मति विरति वापमद्यकपेति ।
 भक्त प्रसादवति मित्र तथापि कैश्चिद्,
 सत्संगति कथं किं न करोति पु साय ॥१॥

सत्संगति बुद्धि की अकृता को हर लेती है, बाणो को सत्य
 से सीखती है, मान को बढ़ाती है, पाप को हटाती है, बिल का
 प्रसन्न करती है, पाश को फँकाती है। कहो सत्संगति मनुष्य
 के लिए क्या क्या नहीं करती ॥१॥

सख्यसंगो मा मूयति संगो मामस्तु तनुवा स्नेहः ।
 स्नेहो यदि मा विच्छेदो यदि विरहो मामस्तु जीवित्प्राप्ता ॥२॥

सख्यन का संग न हो ! यदि संग हो तो फिर स्नेह न हो ।
 यदि स्नेह हो तो फिर विरह न हो ! और यदि विरह हो तो
 फिर जीवन की प्राप्ति न हो ॥२॥

संयमो पुनरापि संयमितेन पुनरे पुनः ।
 यदि पुनरीकृतमित्ये वीनाकृत्य प्रापति महिमापम् ॥३॥

कुसीन और गुणवान् होने पर भी संय-वितेय से ॥ मनुष्य

का आदर होता है। देखो, तूम्हीफल के बिना वीणादण्ड की कोई महिमा नहीं होती ॥३॥

रे जीव सत्सगमवाप्नु हि त्वमसत्प्रसङ्गं त्वरया विधाय ।

धन्योऽपि निन्दां लभते कुसङ्गाच्च सिन्दूरबिन्दुर्विधवाललाटे ॥४॥

रे जीव, तू बुरी सगति छोड़कर शीघ्र ही सत्सगति का ग्रहण कर ; क्योंकि बुरी सगति से भला आदमी भी निन्दित होता है—जैसे विधवा के मस्तक में सिन्दूर का बिन्दु ॥४॥

भाग्योदयेन बहुजन्मसमार्जितेन सत्सङ्गमञ्च लभते पुरुषो यदा वै ।

अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकारनाशं विधाय हि तदोदयते विवेक ॥५॥

जब मनुष्य का अनेक जन्मों का भाग्य उदय होता है, तब उसको सत्संगति प्राप्त होती है, और सत्संगति के प्राप्त होने से जब उसका अज्ञानजन्य मोह और मद का अन्धकार नाश हो जा जाता है, तब विवेक का उदय होता है ॥५॥

सन्तोष

सर्पा पिवन्ति पवनं न च दुर्लभान्ते

शुष्कैर्नृणैर्यनगजा बलिनो भवन्ति ।

कन्दै फलैर्मुनिवराः क्षपयन्ति कालं

सन्तोष एव पुरुषस्य पर निधानम् ॥१॥

सर्प लोग हवा पीकर रहते हैं, तथापि वे दुर्लभ नहीं हैं। जंगल के हाथी सूखे तृण खाकर रहते हैं, फिर भी वे बली होते हैं। मुनिवर लोग कन्दमूलफल खाकर ही कालक्षेप करते हैं। सन्तोष ही मनुष्य का परम धन है ॥१॥

वधमिह वरिष्ठया कलकैस्त्वं दुष्टये
 सम इह वरिष्ठोऽथो विविक्तो विविक्ते ।
 यं हि पश्यति वरिष्ठो कम्पं तुष्णा विज्ञाता
 नमसि ये वरिष्ठो कोऽर्थावाप्स्ये वरिष्ठारम्भे ॥

हम छाछ के कपड़े पहन कर ही समुत्पन्न हैं, हम सुन्दर
 ऐश्वर्यी वस्त्र पहनते हैं। दोनों में समतोल बराबर ही है। कोई
 विशेषता नहीं। वास्तव में वरिष्ठ वही है, जिसमें मारी तुष्णा
 है। जहाँ मन समुत्पन्न है, वहाँ कौन धनवान् है, कौन वरिष्ठ
 है ॥१॥

अर्थे करोति त्वेन कम्पार्थे त्वंवरिष्ठोऽयम् ।
 वरिष्ठतया यं लोकं छन्द्यास्ते नित्यम् । इत्या ॥१॥

धन की इच्छा करनेवाला वीनता दिखलाता है, जो धन
 कमा देता है, वह भूमिमान में मूर्ख रहता है, और जिसका
 धन नष्ट हो जाता है, वह शोक करता है। इस छिपे जो नित्य
 है, समतापी है वह सुख में रहता है ॥३॥

अविज्ञानेन वृत्तान्तं धान्तान् समवेज्जते ।
 सदा समुत्पन्नस्यः सर्वं छन्द्यासः क्षिया ॥२॥

जो अविज्ञान है जिसमें इन्द्रियाँ को जीत क्षिया है, जिसका
 हृदय शान्त है, बिना स्थिर है, मन सदैव समुत्पन्न है, उसको
 सम्पूर्ण क्षिप्तार्थे सुखमाय है ॥४॥

साधुवृत्ति

छिन्नोऽपि चन्दनतर्क जहाति गन्धम्
वृद्धोऽपि वारणपतिर्न जहाति लीलाम् ।
यन्त्रार्पितो मधुरता न जहाति चक्षु
क्षीणोऽपि न त्यजति शीलगुणान् कुलीन ॥१॥

चन्दन का वृक्ष काटा हुआ भी गन्ध को नहीं छोड़ता,
गजेन्द्र वृद्ध होने पर भी क्रीड़ा नहीं छोड़ता, ईख कोल्हू में देने
पर भी मिटास नहीं छोड़ती । कुलीन पुरुष क्षीण हो जाने पर
भी अपने शील-गुणों को नहीं छोड़ता ॥१॥

विद्याविलासमनसो घृष्टशीलशिक्षा
सत्यव्रता रहितमानमेलापहार ।
संसारदुःखबलनेन उभूषिता ये
धन्या नरा विहितकर्मपरोपकारा ॥२॥

जिनका मन विद्या के विलास में तत्पर रहता है, जो शील-
स्वभावयुक्त हैं, सत्य ही जिनका व्रत है, जो अभिमानसे रहित
हैं, जो दूसरों के दोषों को भी दूर करनेवाले हैं, संसार के
दुखों का नाश करना जिनका भूषण है—इस प्रकार जो
परोपकार के कार्यों में ही लगे रहते हैं, उन मनुष्यों को धन्य
है ॥२॥

उदयति यदि भानु पश्चिमे दिग्विभागे
प्रचलति यदि मेरु शीतता याति वह्नि ।
विकसति यदि पद्म पर्वताग्रे शिलायास्
न भवति पुनरुक्त आपितं सज्जनानाम् ॥३॥

चाहे सूर्य पूर्व को छोड़कर पश्चिम दिशा की ओर उदय
हो, चाहे सुमेरु पर्वत अपने स्थान से टल जाय, चाहे आग

शीतलता को धारण कर छि, और चाहे पर्यंतकी प्रियामों में कमल फूलन सरो, पर सज्जनों का बचन नहीं बखल सखता ॥३॥

बचन प्रसारणन सखन हवन ध्यातुको बाध ।

बचन परोपकारन केन केन न त कथा ॥४॥

जो सखीय प्रसन्नपवन रहते हैं, जिनका हृदय दया से पूर्ण है, जिनकी पार्श्व से समृद्ध रूपकता है, जो निरप परोपकार किया करते हैं—येसे मनुष्य किसको सम्बन्धीय नहीं है ? ॥५॥

अपि विष्णुमतु राजन्यवीकारि कल्पवत्सा कुमान्वारा ।

अप्यनुवर्तते विष्णु कुमान्वे नम तु मर्षि नवाम्नेतु पमोत् ॥६॥

चाहे ममी मरा राज्य बका जाय, अध्या अपर से लम्पारों की धारें बरसें मेरा फिर भरी काळ के हवाले हो जाय, परन्तु मेरी मति धर्म से न पकटे ॥७॥

मोक्ष कुतर्क न कुण्डल हावेन पार्थिव तु कल्पेव ।

विमति कथा करनापण्य परोपकारेणु कल्पेव ॥८॥

कान शास्त्रों के सुवन से शोभा पावे हैं, कुण्डल पहनने से नहीं । हाथ हान से सुशोभित होत है, कटुन से नहीं । क्याहील पुण्याके शरीर की शोभा परोपकार से है कल्प से नहीं ॥९॥

विपति वैभवयाम्बुबने क्षमा सखि बाक्सुखा मुनि विष्णु ।

वधसि वामिनिविष्णुवर्धन मुने प्रविधिहमि हि महात्मनाम् ॥१०॥

विपत्तिमें घेरे येत्यर्थ में क्षमा क्षमा में बचन प्रातुरी मुख में बीरता यय में प्रीति, विधा में व्यसय—ये बातें महात्मनों में स्वामाधिक ही होती हैं ॥११॥

करी कलाकलाप्य विपति पुतापप्रविधा ।

मुने सखा वामी विपति मुनेवीर्यवत्तुम् ॥

हृदि स्वच्छावृत्तिः श्रुतमधिगतैकव्रतफलम् ।

विनाप्यैश्वर्येण प्रकृति महतां मन्दनमिदम् ॥८॥

कर से सुन्दर दान देते हैं, सिर से वड़ों के चरणों में गिरते हैं, मुख से सत्य वाणी बोलते हैं, अतुल बलवाली भुजाओं से सग्राम में विजय प्राप्त करते हैं, हृदय में शुद्ध वृत्ति रखते हैं, क्रान्तों से पवित्र शास्त्र सुनते हैं—विना किसी ऐश्वर्य के भी महापुरुषों के यही आभूषण हैं ॥८॥

घनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां गृहेषु पचेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।

अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥९॥

जिनका मन विषयों में फँसा हुआ है, उनसे, वन में रहने पर भी, दोष होते हैं, पाचों इन्द्रियों का निग्रह करने से घर में भी तप हो सकता है। जो लोग सत्कार्यों में प्रवृत्तरहते हैं, और विषयों से मन को हटा चुके हैं, उनके लिए घर ही तपोवन है ॥९॥

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरं गेहिनी

सत्यं सूरुर्य दया च भगिनी भ्राता मनः संयमः ।

शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजन-

मेते यस्य कुटुम्बिनी घट सखे कस्माद्भयं योगिन ॥१०॥

धैर्य जिनका पिता है, क्षमा माता है, शान्ति स्त्री है, सत्य पुत्र है, दया बहन है, संयम भाई है, पृथ्वी शैया है, दिशा ही वस्त्र है, ज्ञानामृत भोजन है—इस प्रकार जिनके सब कुटुम्बी मौजूद हैं, उन योगियों को अब और किस बात की आवश्यकता रह गई ॥१०॥

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदनवापतादनै ।

तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते त्यागेन शौकेन गुणेन कर्मणा ॥११॥

जिस प्रकार सोने की चार तरह से—अर्थात् घिसने से,

काटने से, तपाने से और पीटने से परीक्षा होती है, उसी प्रकार मनुष्य की भी बार बार से—अर्थात् त्याग, शक्ति, गुण और धर्म से—परीक्षा होती है ॥११॥

परब्रह्मने पंगु परातपिरीहनेश्वरत्वात् ।

बृहत् पराक्याहं स भवति सर्वमिदं भव्यम् ॥१२॥

बृहदे का पद्म हरण करने में जो पंगु है, और बृहदे की स्त्री को कुङ्कुम से देखने में जो भव्या है, तथा बृहदे की निम्ना करने में जो शृङ्गा है, वह संसार में सब को व्याप होता है ॥ १२ ॥

विद्या विवादाय चर्चं मद्राच जटिह फेरं परिसिद्धाय ।

कल्पन् तापोविपरीतमक्ष्ण् क्षापाय क्षापाय च पञ्चमाय ॥१३॥

बुद्धों के पास विद्या विवाद के छिद्, फल पर्व के छिद् और शक्ति बृहदे को कष्ट देने के छिद् होती है; परन्तु साधु लोग इन सब वस्तुओं का उससे विपरीत उपयोग करते हैं—अर्थात् विद्या से ज्ञान बढ़ाते हैं, फल से ज्ञान करते हैं; और शक्ति से निर्बलों की रक्षा करते हैं ॥ १३ ॥

दुर्जन

दुर्जनः प्रियवापी च नेत्रद्विस्वाक्यारण्यम् ।

मनु विद्वति विद्वान्ने इमि दाकादहं निम्नम् ॥१४॥

दुर्जन लोग मनुजमापी होते हैं, पर वह बात उनके विवाह का कारण नहीं हो सकती क्योंकि उनकी जिह्वा में तो मित्रास होता है, पर हृदय में दयादय विष भरा पड़ता है ॥ १४ ॥

दुर्जनं प्रथम घन्दे सज्जनं तदनन्तरम् ।

मुखप्रक्षालनात्पूर्वं गुदप्रक्षालनं यथा ॥२॥

दुष्ट को पहले नमस्कार करना चाहिए—सज्जन को उसके बाद । जैसे मुँह धोने के पहले गुदा को धोते हैं ॥ २ ॥

अहो प्रकृतिसादृश्यं श्लेष्माणो दुर्जनस्य च ।

मधुरै कोपमायाति तित्ककेनैव शाम्यति ॥३॥

देखो, श्लेष्मा और दुष्ट की प्रकृति में कितनी समता है—दोनों मिठाई से बिगड़ते हैं और कड़ुआई धारण करने से शान्त हो जाते हैं ॥ ३ ॥

गुणगणगुफितक्रान्ये मृगयति दोषं गुणं न जातु खल ।

मणिमयमन्दिरमध्ये पश्यति पिपीळिष्ठा छिद्रम् ॥४॥

अनेक गुणों से भरे हुए काव्य में भी दुष्ट लोग दोष ही ढूँढ़ते हैं, गुण की तरफ ध्यान नहीं देते—जैसे मणियों से जड़े हुए सुन्दर महल में भी चींटी छिद्र ही देखती है ॥ ४ ॥

पुते सत्पुरुषा परार्थघटका स्वार्थं परित्यज्य ये

सामान्यास्तु परार्थमुद्यममृत-स्वार्थाविरोधेन ये ।

तेऽग्रे मानवराक्षसा परहितंस्वार्थाय विघ्नन्ति ये

ये विघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥५॥

सत्पुरुष वे हैं, जो अपना स्वार्थ त्याग करके दूसरे का हित करते हैं । जो अपने स्वार्थ को न बिगाड़ते हुए दूसरे का भी हित करते हैं, वे साधारण मनुष्य हैं । जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरे के हित का नाश करते हैं वे मनुष्य के रूप में राक्षस हैं । परन्तु जो बिना मतलब ही दूसरे के हित की हानि करते रहते हैं, वे कौन हैं, सो हम नहीं जानते ॥ ५ ॥

मित्र

अपि सम्पूर्णतां तु यत्कैः कर्मणां कष्टो दुर्गोः ।

अदीप्तः परिपूर्णैः कन्दोरूपमेवैते ॥१॥

जाहे सब प्रकार से मरा-पूरा हो, परन्तु फिर भी बुद्धि मात्र मनुष्य को मित्र भवस्य क्याना चाहिए, देखो समुद्र सब प्रकार से परिपूर्ण होता है, परन्तु कन्दोरूप की इच्छा फिर भी रखता है ॥ १ ॥

मित्रान्मित्राकल्पयन्तु हृत्पद्मज्जलनि वे कथाः ।

उन्मात्प्रियाणि कुर्वीत सम्मान्येव वात्सल्य ॥२॥

असके मित्र हैं, वह मनुष्य कठिन कार्यों को भी सिद्ध कर सकता है, इस छिपे जगते समाज योग्यता वाले मित्र भवस्य क्याने चाहिए ॥ २ ॥

पात्रान्निवारयति बोधयते दिवाच

गुह्यानि गृह्णाति गुणान्प्रकटयत्येवैति ।

भाषणार्थं च यः कदाचि क्वाचि काचं

अस्मिन्मित्रमस्मिन् प्रवर्तन्ति कथं ॥३॥

पात्रों से बचाता है, कर्मपात्र में डबाता है, छिपाने योग्य बातों को छिपाता है गुणों को प्रकट करता है, भाषण में साथ नहीं छोड़ता समय पर सहायता देता है, ये सन्मित्र के कष्टप्रसन्न लोग कहलाते हैं ॥ ३ ॥

जातुरे जलाने प्राप्ते बुद्धिमेऽनुसंधे ।

उन्मादरे कर्मजाने च वसिष्ठसि च वात्सल्य ॥४॥

पीड़ा के समय व्यक्तियों में फैलने पर, बुद्धिज्ञ में, शत्रुओं

से सकट प्राप्त होने पर, राजद्वार, अर्थात् कोई सुकदमा इत्यादि लगने पर, और श्मशान में जो ठहरता है, वही भाई है ॥ ४ ॥

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लब्धी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।

दिनस्य पूर्वार्धपरार्धमिन्ना छायेष मैत्री खलसज्जनानाम् ॥५॥

जैसे दोपहर के पहले छाया प्रारम्भ में तो बड़ी और फिर क्रमशः क्षय को प्राप्त होती जाती है, और दोपहर के बाद की छाया पहले छोटी और फिर बराबर बढ़ती ही जाती है, वैसे ही दुष्टों और सज्जनों की मित्रता भी क्रमशः सुबह और शाम के पहर की छाया की भांति घटने-बढ़नेवाली होती है ॥ ५ ॥

परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ।

वज्रयेत्तादृश मित्रं विपकुम्भं पयोमुखम् ॥६॥

पीछे तो कार्य की हानि करते रहते हैं, और आगे मधुर वचन बोलते रहते हैं। इस प्रकार के विप भरे हुए घड़े के समान मित्रों को, कि जिनके सिर्फ मुख पर ही दूध लगा है, छोड़ देना चाहिए ॥ ६ ॥

मुखप्रसन्नं विमला च दृष्टि कथाञ्जुरागो मधुरा च वाणी ।

स्नेहोऽधिकं सम्भ्रमदर्शनञ्च सदानुरक्तस्य जनस्य लक्षणम् ॥७॥

प्रसन्न मुख, विमल दृष्टि, वार्तालाप में प्रेम, मधुर वाणी, स्नेह अधिक, बार बार मिलने की इच्छा, इत्यादि प्रेमी मित्र के लक्षण हैं ॥ ७ ॥

बुद्धिमान्

अपमानं गुरुकृत्य मार्गं कुर्यात् न दुष्टम् ।

स्वार्थं च साधयेद्योगाद् स्वार्थं च सो हि पूर्वम् ॥१॥

अपमान को भावी लेकर और मान को पाँछे हटाकर बुद्धिमान् मनुष्य को अपना मतलब साधना चाहिए, क्योंकि स्वार्थ का नाश करना पूर्वता है ॥ १ ॥

शक्तिं स्वयं दत्ता परमं दत्तम् कदा दूरे

प्रीतिं दातुं नमः कदा दत्तं दितुं नमः चार्जम् ।

शौचं दत्तं दत्ता गुरुं नमः चार्जम् चार्जम् ।

इत्थं वे पुनः कदाचिद् दुःखं वास्तव्येन कोऽस्मिन् ॥२॥

अपने शौचों के साथ क्षमता दूसरों पर दया, दुर्जन के साथ दृढ़ता साधुओं पर भक्ति, दुष्टों के साथ अस्मिता विद्वानों के साथ समुदाय शत्रुओं के साथ दूरता वड़े शौचों के साथ क्षमा स्त्रियों के साथ शत्रुता—इस प्रकार जो मनुष्य वर्तन करने में कुशल है, वही संसार में रह सकता है और जहाँ से संसार रह सकता है ॥ २ ॥

अदीर्घार्थं पशुनापि पश्यते इवायम् वायान्त्वं बहन्ति रेक्षितः

मनुजस्तु यदिति पश्यतो नमः कीदृशं वास्तव्यं हि दुष्टम् ॥३॥

कभी दूर बात को तो पशु भी समझ लेते हैं। बैल, हाथी, घोड़े इत्यादि संकित से ही काम करते हैं, लेकिन पंडित लोग क्या कभी दूर बात भी जान लेते हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि दूसरे की चेष्टाओं से ही बात को छल सकती है ॥ ३ ॥

कोमलं च कदाचिद् दत्तं दितुं नमः कोमलं चार्जम् चार्जम् ।

परमं संवत्सं कदाचिद् दत्तं दितुं नमः कोमलं चार्जम् चार्जम् ॥४॥

कौओं के काँव काँवमें कोकिल की कूक कहीं अच्छी लगती है ? दुष्ट लोग जब आपस में झगड रहे हों, तब बुद्धिमान् का चुप रहना ही अच्छा ॥४॥

न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नरः ।

एतदेवात्र पाण्डित्यं यत्स्वल्पात् भूरिरक्षणम् ॥५॥

बुद्धिमान् मनुष्य को थोड़े के लिए बहुत का नाश न करना चाहिए । बुद्धिमानी इसी में है कि थोड़े की अपेक्षा बहुत की रक्षा करे ॥५॥

मूर्ख

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ।

पय पानं भुजङ्गानां केवलं त्रिपवर्धनम् ॥१॥

मूर्ख लोगों को उपदेश करने से वे और कुपित होते हैं, शान्त नहीं होते । सर्प को दूध पिलाने से केवल त्रिप ही बढ़ता है ॥१॥

मुक्ताफलैः किं मृगपक्षिणा च मिष्टान्नपानं किमु गर्दभाणाम् ।

अंधस्य दीपो वहिरस्य गीतम् मूर्खस्य किं सत्यकथाप्रसंगः ॥२॥

मृग और पक्षियों इत्यादि को मुक्ताफलों से क्या काम ? गधों को सुन्दर भोजन से क्या मतलब ? अन्धे को दीपक और वहरे को सुन्दर गीत का क्या उपयोग ? इसी प्रकार मूर्ख मनुष्य को सत्यकथा से क्या काम ? ॥२॥

शक्यो वारयितुं जलेन द्रुवमुक् छत्रेण सूर्यातपो ।

नागेन्द्रो निशिताकुशेन समदो दण्डेन गो गर्दभौ ॥

आविर्भवश्चाप्यहं विनिर्देशमन्वयोर्देवः ।

सर्वमौचिजस्तु वास्तविकं मूर्धन्यं वास्तविकम् ॥१॥

ऊँ से अग्नि का उद्गम किया जा सकता है, ऊँ से प्रबल भूप रोकी जा सकती है, प्रतवाला हाथी भी अंकुश से बस किया जा सकता है, बैल-गाये इत्यादि भी इँडे से रास्ते पर साये जा सकते हैं, अनेक प्रकार की भीषणियाँ से रोगाका भी हलाक किया जा सकता है, माना प्रकार के मंत्रों के प्रयोग से विष भी दूर किया जा सकता है ; इस प्रकार उँ से का हलाक शास्त्र में कहा है, पर मूर्धन्य की कोई शोषण नहीं ॥१॥

मूर्धन्यं च किदापि यो हर्षयति नृणां ।

कोपयति हृष्यादस्य पचात्येववाहृत् ॥२॥

मूर्धन्य के पाँच किन्तु हैं—अमिमल कठोर वचन कोष, हठ और दूसरों के वचनों का निरादर ॥२॥

न्या कण्ठकण्ठधारवाही पारस्य वेत्ता न ह्य कल्पयन् ।

एवं हि सप्तत्राणि कल्पयन्तीति चार्त्तु मुदा कण्ठधारिणि ॥

जैसे किसी गधे के ऊपर कल्पन छाया हो तो वह सिर्फ अपने घोड़े का ही ज्ञान रखता है, कल्पन के गुण का उसे कुछ भी ज्ञान नहीं। इसी प्रकार बहुत शास्त्र पढ़ा हुआ भी यदि हसका भय नहीं आता तो वह केवल गधे के समान ही उस शास्त्र का भार डोलेवाला है ॥३॥

वेत्ता न विद्या न तपो न दानं धर्मं न शीलं न गुणो न कला ।

ते मन्त्रकोके मुनिवारमुदा मनुष्यकेन स्यात्परिणि ॥४॥

जिनमें विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील, गुण धर्म कुछ नहीं है, वे इस मनुष्यकोक में, पृथ्वीके माण्डप, मनुष्यके वैष्णव पशु हैं ॥४॥

पाण्डित और मूर्ख

इममुरगारथे प्रयान्ति मूढा धनरहिता विबुधा प्रयान्ति पदभ्याम् ।

गिरिशिखरगताऽपि काकपक्षि पुलिनगतैर्न समत्वमेति हंसैः ॥१॥

मूर्ख लोग हाथी-घोड़े और रथ पर चलते हैं—गरीब पण्डित बेचारे पैदल ही चलते हैं (परन्तु क्या इससे मूर्ख धनवान् गरीब पण्डित की बराबरी कर सकते हैं ?) ऊँचे पर्वत पर चलनेवाली कौओं की पक्षि नीचे नदी तीर चलनेवाली हंस—श्रेणीकी समता नहीं कर सकती ॥१॥

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा यस्तु क्रियावान् पुरुष स विद्वान् ।

उचिन्तितं चोपधमातुराणां न नाममात्रेण करोत्यरोगम् ॥२॥

शास्त्र पढ़े हुए भी लोग मूर्ख होते हैं। वास्तव में जो उस शास्त्र के अनुसार चलता है, वही विद्वान् है। खूब सोची-समझी हुई ओपधि भी नाममात्र से किसी रोगी को चंगा नहीं कर सकती ॥२॥

विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम् ।

न हि बंध्या विजानाति गुर्वी प्रसववेदनाम् ॥३॥

विद्वान् पुरुष का परिश्रम विद्वान् ही जान सकता है। बंध्या स्त्री प्रसव की पीड़ा कभी नहीं जान सकती ॥

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।

व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन च ॥४॥

बुद्धिमान् मनुष्यों का समय सदैव काव्य और शास्त्र के विनोद में व्यतीत होता है ; और मूर्ख लोगों का समय व्यसन, निद्रा अथवा लड़ाई-झगड़े में जाता है ॥४॥

एकता

मत्स्यानामपि कर्तुं यदकिं कार्यमात्मिका ।

द्वेष्टु मत्स्याप्यनर्क्यते मरुत्तुल्यम् ॥१॥

छोटी छोटी वस्तुओं की भी एकता कार्यको सिद्ध करनेवाली होती है । झिझकों के मेकसे बना हुआ रस्सा मत्त हाथियों को भी बांध सकता है ॥१॥

न वे मित्वा आतु धरन्ति कर्मसु न वे क्वं प्राप्नुकन्तीह मित्वा ।

न वे मित्वा मौरवं प्राप्नुकन्ति न वे मित्वा प्रकर्म रोक्कन्ति ॥२॥

जिम लोगोंमें फूट है, वे न तो धर्म का माधरण कर सकते हैं, न सुख प्राप्त कर सकते हैं, न यौरव प्राप्त कर सकते हैं, और न शान्ति का सम्पादन ही कर सकते हैं ॥२॥

वद्वो न विरोहन्वा दुर्बन्वाप्तेऽपि दुर्बला ।

स्पृण्णमपि बालेन मत्स्यान्ते विविक्किता ॥३॥

बाहे दुर्बल भी हों, परन्तु यदि वे सुसंयतित संख्या में अधिक हैं, तो उनसे विरोध न करना चाहिए, क्योंकि वे दुर्बल होने पर भी संख्या में अधिक हैं, इसलिये मुश्किलें सँझीते आ सकते हैं । देखो—कुसहायी हुए साँपको भी कीटियाँ मिसकर का जाती हैं ॥३॥

कं एवं कं पञ्च कं पञ्च कं न ते ।

अन्यैः सह विनारे तु कं पञ्च कं न वे ॥४॥

पों तो (पापसमें डकुने से) हम (पाँचव) पाँच भीर पे (कीरव) सौ है, पर अहाँ दूसरे के साथ ममदा था पड़े, हम सब को मिसकर एक सौ पाँच हो आना चाहिए ॥४॥

यथात्मीयो जनो नास्ति भेदस्तत्र न विद्यते ।

कुठारे दण्डनिर्मुक्ते मिथ्यन्ते तत्र कथम् ॥५॥

जहा अपना कोई नहीं, वहा भेद फूट नहीं सकता है । बिना दण्डे की कुल्हाड़ी वृक्षों को कैसे काट सकती है । “कुल्हाड़ी का दण्डा अपने गोल का काल होता है ” ॥५॥

कुठारमालिका दृष्ट्वा कम्पिता सकला द्रुमा ।

वृद्धस्त्वस्त्वाघेदं स्वजातिनैव दृश्यते ॥६॥

कुल्हाड़ियों के झुंड को देखकर सारे वृक्ष कापने लगे ; पर उनमें एक बुढ़ा वृक्ष था, उसने कहा (भाई कापते क्यों हो, ये खाली कुल्हाड़ियां कुछ नहीं कर सकतीं) इनमें अपनी जाति का (दण्डा) तो कोई दिखाई नहीं देता । (जब तक कोई अपने गिरोह का शत्रुओं के समुह में घुसकर भेद नहीं देते, तब तक प्रबल शत्रु-समुह भी कुछ नहीं कर सकता) ॥६॥

स्त्री

कार्येषु मन्त्री करणेषु दासी भोज्येषु माता शयनेषु रम्भा ।

धर्मानुकूला क्षमया धरित्री पाद्गुण्यमेतद्धि पतिव्रतानाम् ॥१॥

पतिव्रता स्त्रियों में छै गुण होते हैं—१ कार्य में मन्त्री के समान उचित सलाह देती हैं , २ सेवा करने में दासी के समान आराम देती हैं , ३ भोजन कराने में माता के समान ध्यान रखती हैं , ४ शयन के समय रम्भा अप्सरा के समान सुख देती हैं , ५ धर्मकार्यों में सदा अनुकूल रहती हैं , और ६ क्षमा में पृथ्वी के समान सहनशील होती हैं ॥१॥

अमर्त्यं पुनस्तं राजा अमर्त्यं पुनस्तं वधी ।

अमर्त्यं पुनस्तं विद्यां स्त्री अमर्त्यं विदधति ॥१॥

राजा धनी और विद्यामंछोग तो घूमते फिरते हुए पूजे जाते हैं, परन्तु स्त्री घूमती फिरती हुई मष्ट मष्टा मष्ट हो जाती है ॥२॥

सा कविता सा वसिष्ठ कथाः अमर्त्यं वसिष्ठसि ।

कविप्रत्यं वसिष्ठप्रत्यं सत्यं कर्तुं न सत्यं भवति ॥३॥

कविता वही है; और धनिता वही है कि जिसके अर्थ करने और दर्शन करने भाव से कवि का हृदय और पति का हृदय मुरझा ही प्रसन्न और प्रसन्न हो जाता है ॥३॥

पुनश्चैव महामायाः पुनश्चैव पुनश्चैव ॥

विद्यां विद्यां पुनश्चैव विद्यां विद्यां विद्यां ॥

विद्यां घर की लक्ष्मी है, वसिष्ठ से पूज्य है, बड़े भाग्य-वाली है, पुण्यशाली है, घर की वीथि है। उनकी रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिए ॥४॥

परस्त्री-निषेध

हरिहरः कर्तव्यापुर्णं हसति जीविममसि कर्तव्यं नर ।

हर हरिहरिबीर्यमिमिषं कथं वसुधैव कुटुम्बकम् ॥१॥

यदि मनुष्य को अपने प्राण प्यारे हैं, तो वह परस्त्री के संसर्ग को छोड़ देवे। ऐसी सीता का हरण करनेके कारण इस सिरवासे सिर गिरा दिये गये ॥१॥

अपसर मधुकर दूर परिमलबहुलेऽपि केतकीकुसुमे ।

इह न हि मधुलवलाभो भवति परं धूलिधूसरं घटनम् ॥२॥

हे मधुकर ! बहुत परागवाले केतकी-कुसुम से भी दूर हो रहो । यहाँ रस तो ज़रा भी नहीं मिलेगा—हा, मुख धूल से अवश्य भर जायगा ॥ २ ॥

रक्षपतिर्जनकजाहरणेन बाली—

तारापहारविधिना स च कीचकोऽपि ।

पांचालिकाप्रमथनान्निधनं जगाम

तस्मात्कदापि परदाररतिं न कुर्यात् ॥३॥

सीता के हरण से रावण, तारा के हरण से बाली और द्रौपदी को छेड़ने से कीचक मारे गये । इस लिए परस्त्री से कभी स्पर्श न करो ॥ ३ ॥

वसाङ्गारसमा नारो घृतकुम्भसम पुमान् ।

तस्मात् बहि घृत चैव नैकत्र स्थापयेद् बुधः ॥४॥

स्त्री जलते हुए अंगार की तरह है, और पुरुष घी के घड़े के समान है । इस लिए आग और घी, दोनों को बुद्धिमान् लोग एक जगह न रखें ॥ ४ ॥

पश्यति परस्य युवतीं सकाममपि तन्मनोरथं कुरुते ।

ज्ञात्वैव तदप्राप्तिं व्यर्थं मनुजो हि पापभागभवति ॥५॥

मनुष्य दूसरे की युवती स्त्री देखता है ; और यह जानते हुए भी कि यह मुझको मिलेगी नहीं, कामातुर होकर उसके पाने की इच्छा करता है ! अपने इस व्यवहार से वह बृथा पाप का भागी बनता है ॥ ५ ॥

दैव

अरुणः विहसि रेवराक्षितं अरुणितं रेवदत्तं विमलवर्णः ।

जोहलबनापीऽपि नये विछाजिअ कउअनयोऽपि गूह विअनयति ॥१॥

ईश्वर जिसकी रक्षा करता है, वह अन्य किसी की रक्षा के
 बिना भी सुरक्षित रहता है, और ईश्वर जिसके अनुकूल नहीं
 है, वह सुरक्षित होने पर भी नष्ट हो जाता है। अर्थात् यथा क्व
 में छोड़ देने पर भी जीवित रहता है, और वड़े यक्ष से पाप्मा
 पोषा हुआ भी घर में मारा जाता है ॥ १ ॥

अमुष्मन्महामुष्मन्ते हि विष्ये सप्तमन्मन्तेऽपि कपुताचकवा ।

प्रतिद्वन्द्वानुगतं हि विनी विचक्ष्यसि बहुधावनता ॥२॥

पद्मात्मा के मनुकृत हाथ पर थोड़ा साधन भी विफल हो जाता है। और प्रतिष्ठित हाथ पर बहुत साधन भी विफल हो जाता है ॥ २ ॥

॥ निर्मिता कन न तस्य भूष्ये न ज्ञायते हेमवतः पुराण ।

अथपि शृण्वन् शुकमुवाच ॥ विद्याधरः प्रोवाच ॥ ॥ ॥

ज्ञान का द्विज न कम। पंहा हुआ, और न किसी ने देखा
न सुना फिर भी श्री भीरामचन्द्रजी का उसका प्राप्त करने का
साधन समाया। शिनाय-कास माने पर बुद्धि पिपरीत हो
जाती है ॥ ३ ॥

ਸੁਸਤਿ ਕਾਕਾਪੰਥਾਕਰੇ ਪੁਰਾਣਕਾਰਨੇ ਮੁਖ ।

हृदि लक्ष्म्याः कलावि चारु कलाविष्णुविभो ॥१॥

बढ़ बढ़ गुणवाम पुण्य रसी का कि आरग पूर्णी क
भूषण गवण दे रपता है। पण्डित निर भी उनका शक्तिगुण
कता है हा कय रव की यह मुक्तता ॥ ४ ॥

परगृह-गमन

अयममृतनिधान नायकोऽग्रौपधीना-

ममृतमय शरीर कान्तियुक्तोऽपि चन्द्र ।

भवति विगतरदिमर्मण्डलं प्राप्य भानो

परसदननिविष्ट को लघुत्व न याति ॥१॥

चन्द्रमा अमृत का भंडार है, ओपधियों का पति है, इसका शरीर अमृतमय है, कान्तियुक्त है, फिर भी जब यह सूर्य के मंडल में जाता है, तब (अमावस को) इसका तेज नष्ट हो जाता है । (सब है) दूसरे के घर जाने से कौन लघुता को नहीं प्राप्त होता ॥ १ ॥

पृष्ठागच्छ समाश्रयासनमिदं कस्माच्चिरात् दृश्यसे ।

का वर्ता कुशलोऽसि बालसहित प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात् ॥

एव ये समुपागतान्प्रणयिना प्रह्लादयन्त्यादरात् ।

तेषां युक्तमशक्तिन मनसा हर्म्याणि गन्तुं सदा ॥२॥

“आइये, यहा पर विराजिये, आसन मौजूद है, बहुत दिन के बाद दर्शन दिये, कहिये, क्या समाचार है ? बालवच्चों-सहित कुशल से तो हैं ? आपके दर्शन से मुझे बड़ा आनन्द हुआ”— इस प्रकार जो अपने घर आये हुए प्रेमियों को आदर-पूर्वक प्रसन्न करते हैं उनके घरमें सदा, बिना किसी सकोच के, जाना चाहिए ॥२॥

नाभ्युत्थानक्रिय यत्र नालापा मधुराक्षरा ।

गुणदोषकथा नैव तत्र हर्म्यं न गम्यते ॥३॥

जहा पर कोई उठकर लेवे भी नहीं , और न मधुर वचनों से बोले , और न किसी प्रकार की गुण-दोष की बात ही पूछे, उस घर में न जाना चाहिए ॥३॥

अतिपरिक्लादयद्वा संतुष्टमवाप्नुयादतो जयति ।

मन्त्रे विदुर्लभ्यी कन्दमयमहाप्रमिषत् कुप्यते ॥१५॥

अति परिष्कय अर्थात् बहुत ज्ञान-प्राप्तवान हो जाने से भयभीत होती है, और हमेशा जाते रहने से अस्वास्त होता है। मन्त्रपात्रक पर्वत पर मिट्टी की सिखा कन्द-मृदा से काट हा को रूधिर बनाकर उड़ाने दी ॥१५॥

राजनीति

मुक्ताय जसो वर्कं प्रयास्य परिचलन्त्य ।

वृद्धमिच्छन्तं किञ्च धनोत्पादे विवर्त्यते ॥१६॥

मन्त्रा का पाछन और कुप्यते का विच्छेद राजा का पदम धर्म है, पर ये दोनों ही बातें बिना नीति ज्ञान नहीं हो सकती ॥१॥

राजा कन्दमयमूर्त्यं राजा कुर्याच्छुचयः ।

राजा विद्या व माया व सर्वेषां ज्ञानवर्जितम् ॥१७॥

राजा अकल्पमूर्ति का कल्प है, और अन्धों की भाँति है। वही सबका माता पिता है—यदि वह त्याग से चकन्ता हो तो। (अन्त्यया वह शत्रु है) ॥१७॥

यथा ननु कदापि राज्ञः कुप्यमि वृक्षः ।

वृक्षस्यैव मनुष्येभ्य आकृष्यमपि शिक्षया ॥१८॥

जैसे मीरा वृक्षोंको बिना हानि पहुँचाये—अन्धों पछा करते हुए—मनुष्य पक्ष कर देता है, वैसे ही राजा को पबित है कि, मन्त्रा को बिना किसी प्रकार की हानि पहुँचाये कर से मिया करे ॥१८॥

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया ।

सोचिराद् भ्रश्यते राज्याञ्जीविताञ्च सबाधवः ॥४॥

जो राजा मोह या लालच में अन्धा होकर अपनी प्रजा को पीड़ित करता है, वह राज्य से शीघ्र ही भ्रष्ट हो जाता है, और अपने भाइयों-सहित अपने जीवन से हाथ धो बैठता । (अर्थात् प्रजा विगडकर उसके राज्य को छीन लेती है ; और उसको उसके आदमियों सहित मार डालती है ।) ॥४॥

द्विरण्यधान्यरत्नानि यानानि विविधानि च ।

तथान्यदपि यत्किञ्चित्प्रजान्य स्यान्महीपते ॥५॥

सोना-चादी, धन-धान्य, रत्न और विविध प्रकार के वाहन इत्यादि जो कुछ भी राजा के पास है, वह सब प्रजासे ही प्राप्त हुआ है ॥५॥

विद्याकलाना वृद्धिं स्यात्तथा कुर्षान्नपः सदा ।

विद्याकलोत्तमान्दृष्ट्वा घत्सरे पूजयेच्च वान् ॥६॥

इस लिए राजा को अपनी प्रजा के अन्दर विद्या और कलाकौशल इत्यादि की सदैव वृद्धि करते रहना चाहिए, और प्रति वर्ष, जो लोग इनमें विशेष योग्यता दिखलावें, उनको पूजते रहना चाहिए ॥६॥

नरपतिद्वितकृतां द्रष्टव्यता याति लोके

जनपदद्वितकृतां त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः ।

इति महतिपिरोधे वर्तमाने समाने

नृपतिजनपदानां दुर्लभः कार्यकलां ॥७॥

जो राजाका द्वितकृता होता है, प्रजा उससे डरेप करती है, और यदि प्रजा के द्वित की तरफ विशेष ध्यान देता है, तो राजा उसे छोड़ देता है । यह बड़ी कठिनाई है । इस कठिनता को

सम्हासते ह्यप, एक ही समय में दोनों का अन्तर हित करता हुआ पड़ा जाय, ऐसा कार्यकर्ता दुर्लभ है ॥४॥

मरधिरा बीजवधालुर्धर्मो ब्रह्मोदित्येव नमो न वापि नै ।

विष्णुत्तो दुर्गममार्गो धर्मो धर्मस्तथावमर्धवर्धनम् ॥५॥

जो राजा नीच जनोंके पक्षधर है और विवेकहीन पुण्यों के ब्ययापे हुए मार्ग में नहीं चले, वे चारों ओर से घिरे हुए ऐसे पिंडों में पड़ जाते हैं कि जहाँ से निकलना फिर उनके लिए कठिन हो जाता है ।

मिथुनस्तथापि राजावरातिर्यन्ति नै शौचविहायारः ।

विदाकृत्यार्थिस्तुल्यः इत्यन्ति ते शत्रुविह्वलिनीम् ॥६॥

जो राजा अपनी मौक्याही के हाथों सारा राज्यधन चौपट भाप गहरी के मोय बिसास में पड़े रहते हैं, वे दुर्लभ राजा मार्ग बिसारों के छुड़ को दुग्ध का माँडार चौपट भाप बेकरार हो रहे हैं । ॥६॥

एवो हि रक्षन्तिमाः पण्यमप्यपि कथा ।

कथा मन्ति प्राक्ते तेनो धेयिता मया ५१ ॥

राजा के अधिकारी प्रायः दूसरों के धन और माँड को अन्धध से खूटा करते हैं, उनसे प्रजाकी रक्षा करना राजा का परम कर्तव्य है ॥७॥

प्रमत्ताः धातुस्तुते न्यहारं विमिच्छेत् ।

न कृत्यवापी न्यायवापी न्यायने ॥८॥

अधिकारी सोय प्रजा के साथ ब्रैसा वर्तान करते हैं इस बात की आज राजा को पक्षपातहित होकर करना चाहिए ।

अधिकारियों का पक्ष न लेकर सदैव प्रजा का पक्ष लेना चाहिए ॥ ११ ॥

कौर्म' संकोधमास्थाय प्रहारानपि मशयेत् ।

काले काले च मतिमानुचिष्येत्कृष्णसर्पवत् ॥ १२ ॥

युद्धिमान् राजा को कछुप की तरह अग सिकोड़कर शत्रु की चोट सहनी चाहिए, परन्तु समय समय पर काले सर्प की तरह फुड़ार कर उठ खड़ा होना चाहिए ॥ १२ ॥

उत्सावान्प्रतिरोपयन्कुष्ठमिताद्विचन्वन् लघून्वर्धयन्

मत्स्यवान्नमयतान्समुद्रपन्विश्लेषयन्संहतान् ।

ऋरान्कटकिनो बहिर्निरसयन्लानान् पुन सेचयन्

मालाकारद्वय प्रपञ्चतुरो राजा चिरं नन्दति ॥ १३ ॥

उखड़े हुओं को जमाता हुआ, फूले हुओं को चुनता हुआ, छोटों को बढ़ाता हुआ, ऊँचों को लचाता हुआ, और लचे हुओं को उठाता हुआ, सगठनवालों को छिन्नभिन्न फरता हुआ, क्रूरों और कटकियों को बाहर निकालता हुआ कुम्हलाये हुओं को फिर सींचता हुआ, माली की तरह प्रपञ्च में चतुर राजा बहुत दिन राज्य सुख भोगता है ॥ १३ ॥

कूटनीति

विचिन्तेष्वपि सर्वे कर्मणा मही कृत ।

विपन्नस्तु न चान्यस्तु कदाप्येवो मर्त्यक ॥१॥

सर्वे में चाहें बिप न हो, परन्तु फिर भी उसको अपना
काम उभारना चाहिये, क्योंकि बिप हो चाहे न हो केवल
कदाप्येव भी वृक्षों को उरजानेके लिए काफी है ॥ १ ॥

वाञ्छन्तु सर्वजैर्योग्यं यथा क्व कदाचनम् ।

किञ्चिन्ने पण्डितान् कृष्णान्निष्ठान् च यथा ॥२॥

बहुधा सीधा नहीं जाता चाहिये । क्व में जाकर देखो ।
यहाँ सीधे सीधे सब काम जाके पड़े नीर खड़े वृक्ष खड़े हैं ॥२॥

अस्ती मयि कदाचिद् वीरं न किञ्चिद् मयि ।

कम्पी भवति विनेही विपन्नश्च मयि पूर्वजना ॥३॥

कुलटा की कम्पावती अस्ती है, बाप वाली विर्यक्त दिखाई
देता है, कम्पी बिदेही बनता है, नीर धुलें मनुष्य भीठे वक्त्र
बोझनेवाली होते हैं ॥ ३ ॥

वस्त्रिणश्च वस्त्रिणे वस्त्रिणः वस्त्रिणश्च वस्त्रिणः च क्व ।

मायायाचो माया वस्त्रिणः कृष्णाय च वस्त्रिणः ॥४॥

क्रिस्ते साथ जो मनुष्य जैसा वर्त्ताव करे वह भी उसके
साथ वैसा ही वर्त्ताव करे—यही धर्म है । कपटों के साथ कपट
का ही वर्त्ताव करना चाहिये और साधु के साथ सत्यता का
स्वभाव करना चाहिये ॥ ४ ॥

वस्त्रिणः वस्त्रिणः वस्त्रिणः वस्त्रिणः वस्त्रिणः च क्व ।

वस्त्रिणः वस्त्रिणः वस्त्रिणः वस्त्रिणः वस्त्रिणः च क्व ।

जो मनुष्य कपटी के साथ कपट का ही यत्ताव नहीं करते, वे मूर्ख हार खाते हैं, क्योंकि ऐसे भोले-भाले मनुष्यों को धूर्त लोग इस प्रकार मार डालते हैं, जैसे कवच-रहित मनुष्य को वाण, उसके शरीर में प्रविष्ट होकर, मार डालते हैं ॥ ५ ॥

साधारण नीति

तावद भयेषु भेतव्यं यावद्द भयमनागतम् ।

आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमशंक्या ॥१॥

भय को तभी तक डरना चाहिए, जब तक कि वह आया नहीं, और जब एक बार आ जावे, तब निश्शंक होकर आक्रमण करना चाहिए ॥ १ ॥

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।

धर्मं स नो यत्र न सत्यसस्ति सत्यं न तथञ्छ्रेनाभ्युपेतम् ॥२॥

वह सभा नहीं, जिसमें वृद्ध न हों। वे वृद्ध नहीं, जो धर्म न बतलावें। वह धर्म नहीं, जिसमें सत्य न हो, और वह सत्य नहीं, जो छल से भरा हो ॥ २ ॥

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।

एतद्वियात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयो ॥३॥

परतन्त्रता एक बड़ा भारी दुःख है; और स्वतन्त्रता ही सब से बड़ा सुख है। संक्षेप में यही सुखदुःख का लक्षण है ॥ ३ ॥

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तं सदा निन्दति नात्र विग्रम् ।

यथा किरासी करिकुम्भलब्धां मुक्तां परित्यज्य विमर्ति गुजाम् ॥४॥

जो जिसके गुण का प्रभाव नहीं जानता वह उसकी सदा

कूटनीति

विनिवेश्यति सर्वे सर्वथा मरुदौ नमः ।

विमलसु व वाष्पसु कदाप्यो पर्वतरा ॥१॥

सर्पे में बाहे बिप न हो परन्तु फिर भी उसको भयना फल समारम्भ बाहिय, क्योंकि बिप हो बाहे न हो केवल कदाप्यो भी वृक्षों को उरबालेके सिध काफ़ी है ॥ १ ॥

वाक्मन्त्र कदाप्यो नमः नमः वक्त्रमन्त्र ।

विमलसु व वाष्पसु कदाप्यो पर्वतरा ॥२॥

बहुधा सीमा नहीं करना बाहिय । नम में बाहर देखो ।
वहाँ सीमे सीमे सब बाह्य डाळे मये, भीर देखे वृक्ष कहे हैं ॥२॥

कम्पनी मयति सज्जना द्वार वीर व विमल मयति ।

कम्पनी मयति विमली विमलसु मयति वृक्षमन्त्रा ॥३॥

कुम्भटा की कम्पनी कम्पनी है, बाहर पानी निर्मल दिवार्ह देता है, हम्मी बिपेकी कम्पनी है, भीर धूर्त मनुष्य मीठे कम्पनी बोझनेवाकी होते हैं ॥ ३ ॥

वक्त्रमन्त्रा वक्त्रे वो मनुष्यः वक्त्रमन्त्रा वक्त्रमन्त्र वक्त्रमन्त्र ।

वाक्मन्त्रो मयति वक्त्रमन्त्रा वाक्मन्त्रा वाक्मन्त्रा वक्त्रमन्त्र ॥४॥

विमलसु साध भी मनुष्य जैसा वर्तान करे, वह भी उसके साथ बैसा ही वर्तान करे—यही धर्म है । कपटों के साथ कपट का ही वर्तान करना बाहिय । भीर साधु के साथ सज्जनता का व्यवहार करना बाहिय ॥ ४ ॥

वक्त्रमन्त्रे वो मनुष्यः वक्त्रमन्त्रा वाक्मन्त्रा वक्त्रमन्त्र ।

वक्त्रमन्त्रे वक्त्रमन्त्रा वक्त्रमन्त्रा वक्त्रमन्त्रा वक्त्रमन्त्र ॥५॥

जो मनुष्य कपटी के साथ कपट का ही यत्नाय नही करते,
वे मूर्ख हार खाते हैं; क्योंकि ऐसे भोले-भाले मनुष्यों को धूर्त
लोग इस प्रकार मार डालते हैं, जैसे कवच-रहित मनुष्य को
माण, उसके शरीर में प्रविष्ट होकर, मार डालते हैं ॥ १ ॥

साधारण नीति

तावद् भयेषु भेतव्यं यावद् मयमनागतम् ।

जागर्तुं तु भयं शृण्वा प्रहर्तव्यमदाख्या ॥१॥

भय को तभी तक डरना चाहिये, जब तक कि वह आया
नहीं, और जब एक बार आ जाये, तब निश्चय होकर आक्रमण
करना चाहिये ॥ २ ॥

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न धदन्ति धर्मम् ।

धर्मं स नो यत्र न सत्यसन्ति सत्यं न तद्यच्छ्रेयान्नुपेतम् ॥२॥

वह सभा नहीं, जिसमें वृद्ध न हों। वे वृद्ध नहीं, जो धर्म
न प्रतलावें। वह धर्म नहीं, जिसमें सत्य न हो, और वह सत्य
नहीं, जो छल से मरा हो ॥ २ ॥

सर्वं पण्डितं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।

एतद्विधात्ममासेन लक्षणं सुखदुःखयो ॥३॥

परतन्त्रता एक बड़ा भारी दुःख है; और स्वतन्त्रता ही सुख
से बड़ा सुख है। संक्षेप में यही सुखदुःख का लक्षण है ॥ ३ ॥

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तं सदा निन्दति नात्र विग्रम् ।

यथा किंगवी करिकुम्मल्लवा मुक्ता परित्यज्य विमर्ति गुंजाम् ॥४॥

जो जिसके गुण का प्रभाव नहीं जानता वह उसकी सदा

बिन्दा करता है, इसमें कोई विचित्रता नहीं। देखो, मिछिरी गजमुक्ता को छोड़कर पुँचधियों की मात्ता पहनती है ॥ ४ ॥

अधिराया स्थिता मूर्ध्नि धर्मे राजकुमारि च ।

विश्वं धनम लेप्स्यन्ति सदा धाम्प्यराशि ष् ३५४

अग्नि जल छी मूर्ध्नि, धर्मे राजकुमार, इनका सदा धाम्प्य-धानी के साथ लेपन करना चाहिये, क्योंकि ये छे लम्काह प्राय को इस्तेफाये हैं ॥ ५ ॥

मित्र वक्त्रवादी मित्रो जगति विप्रसिद्धिर्धर्मकरोमणिर्धर्म कर्तुः ।

बहुमित्रकरो एवं गच्छते जगत् धर्मकरो च गतिं कच्छते ॥ ५४ ॥

मित्र वक्त्र जोड़ने वाला मित्र होता है बिचार पूर्वक अपना काम करी बाका विशेष लक्ष्यता प्राप्त करता है बहुत मित्र बनायेवाला सुखी रहता है, और जो धर्म में लत रहता है, वह सन्तुष्टि पाता है ॥ ६ ॥

लज्जन्त्य जगति यत्रो विप्रसन्न पैत्री

कथेन्निप्रसन्न कुलमन्त्रेण्यत्र धर्म ।

मित्राच्छे जगतिना कुलस्य लौक्यं

एवं प्रसन्नप्रियस्य कथयिष्यन् ॥ ५५ ॥

बुध नैष्ठ रहनेवाले का पता नष्ट हो जाता है, जिसका पितृ एक समान नहीं होता उनकी मित्रता नष्ट हो जाती है जो इन्द्रियोंके नष्ट होते हैं—पानी बुधवादी होते हैं, इनका हृदय नष्ट हो जाता है, जो धन के पीछे पड़े रहते हैं, इनका धर्म नष्ट हो जाता है व्यक्तियों में पँस आलियाहों का विद्या-यत्न नष्ट हो जाता है छात्रों का सुख नष्ट हो जाता है, और जिस राजा का मंत्री प्रमाणी यात्रो लापरवाह होता है, उसका राज्य नष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥

काके शौचं धूतकारे च सत्यं सर्पे क्षान्तिर्यौवनं कामशान्तिः ।

कलीये धैर्यं मद्यपे तत्त्वचिन्ता राजा मित्रं केन हृष्टं श्रुतं वा ॥८॥

कौवे में पवित्रता, जुआरी में सत्य, सर्पमें क्षमा, युवावस्था में काम की शान्ति, नपुंसक में धैर्य, मद्यपी में विवेक, और राजा मित्र—ये बातें किसी ने देखी अथवा सुनी हैं ? ॥८॥

कोविभार समर्थानां किं दूर व्यवसायिनाम् ।

को विदेशं सविद्यानां क परं प्रियवादिनाम् ॥९॥

शक्तिशाली पुरुष के लिये कौन सा काम बहुत भारी है ? व्यवसायी के लिये कौन सा देश बहुत दूर है ? विद्वान् के लिये कहा विदेश है ? प्रिय बोलने वाले के लिए कौन पराया है ? ॥९॥

कुग्राम वासं कुलहीनसेवां कुभोजनं क्रोधमुखी च भार्या ।

पुत्रश्च मूर्खो विधवा च कन्या विनाग्निना पट् प्रदहन्ति कायम् ॥१०॥

कुग्राम का वास, नीच की सेवा, बुरा भोजन, क्रोधमुखी भार्या, मूर्ख पुत्र, विधवा कन्या, ये छै बातें, विना अग्नि के ही, शरीर को जलाती हैं ॥१०॥

कान्तावियोगं स्वजनापमानौ रणस्य शेषं कुनृपस्य सेवा ।

दरिद्रभावो विषमा सभा च विनाग्निमेते प्रदहन्ति कायम् ॥११॥

स्त्रीका वियोग, अपने ही लोगोंके द्वारा किया हुआ अपमान, रण से बचकर भगा हुआ वैरी, बुरे राजा की सेवा, निर्धनता, फूटवाली सभा, ये विना अग्नि के शरीर जलाती हैं ।

व्यवहार-नीति

चिन्ताशुभार्थं न दुर्धर्तं न मित्रा धर्मशुभार्थं स्वकर्मो न कर्तुः ।

कामाशुभार्थं न धर्मं न कर्तव्या सुखाशुभार्थं न कर्मं न तेजः ॥१॥

चिन्ताशुभ मनुष्य को न दुख है, न मित्रा है। धर्म के सिधे
आशुभ मनुष्य को न कोई स्वकर्म है, और न कर्तु है। कामाशुभ
मनुष्य को न धर्म है, न कर्तव्या है। और सुखाशुभ के पास न कर्म
है, न तेज है ॥१॥

कर्म कदा कर्मकलापि नृस्य कर्तुं तेन पुत्राभिसाधम् ।

वाक्या पुत्रार्थं पुत्रजातपुत्रा चिन्ता कर्म इत्यन्वया न धर्मम् ॥२॥

बुढ़ापा रूप को कायक सारे सुख को, पुत्र की सेवा पुत्र्य
के अभिमान को वाक्या बह्व्यन को, अपनी धर्मता सुख को
चिन्ता कर्म को और निर्धर्मता धर्म को नाश कर देती है ॥२॥

धीरोमनसमस्तुः क्षोभोऽनुत्पन्नयोग्यकः ।

अप्यन्वयानो विभीषु गमावहम् ॥३॥

रोम नष्ट, हान्डी-सूख इत्यादि वज्रामत के बावळ कर्मका कर्मका
कर छोटे पक्षमा बाहिये—बहुत बड़े बड़े न रक्षमा बाहिये ।
स्वच्छ बह्वापूर्ण इत्यादि धारण करके सम्यता का मेघ रक्षमा
बाहिये । हाथ में काता और पैर में सूता इत्यादि धारण करके
बार कर्म समी देख कर कर्मका बाहिये ॥३॥

स्वानेधेय विचोक्त्या श्रुताकथाकथादि न ।

न हि कथमपि नरे गुणं नृत्तिं वाचते ॥४॥

नौकरी को और मायुष्यों को अपनी कर्मका अपह डीक
हीन विमुक्त कथा बाहिये, कर्मोधि शीघ्रगुण पैर में और पात्रोधि
किर पर धारण नहीं किया जा सकता ॥४॥

शनैः पंथाः शनैः कथाः शनैः पर्वतमस्तके ।

शनैर्विद्या शनैर्वित्तं पंचैतानि शनैः शनैः ॥५॥

रास्ता चलना, कथरी गूथना, पर्वत के मस्तक पर चढ़ना, विद्या पढ़ना, धन जोड़ना—ये पाच बातें धीरे ही धीरे होती हैं ॥५॥

दाने तपसि शौर्ये वा विज्ञाने विनये नये ।

विस्मयो न हि कर्त्तव्य बहुरज्ञा वसन्धरा ॥६॥

दान में, तप में, शूरता में, विज्ञान में, विनय में और नीतिमत्ता में विस्मय नहीं करना चाहिये ; क्योंकि पृथ्वी बहुत रत्नोंवाली है—साराश यह कि, पृथ्वी पर एक से एक बड़े दानी, तपस्वी, शूरवीर, विज्ञानवेत्ता, विनयशील और नीतिज्ञ पुरुष पड़े हुए हैं।

धनधान्यप्रयोगेषु विद्या संग्रहणेषु च ।

आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जं सुखी भवेत् ॥७॥

धनधान्य के व्यवहार में, विद्या पढ़ने में और आहार व्यवहार में लज्जा छोड़ देने से ही सुख मिलता है ॥७॥

कालं निषम्य कार्याणि ह्याचरेन्नान्यथा क्वचित् ।

गच्छेदनियमेनैव सर्वैवान्तं पुरं नर ॥८॥

समय को बाधकर सब काम सदैव करना चाहिये । अनियमित रूप से कभी आचरण न करना चाहिये । हा, घर के अन्दर अनियमित रूप से भी सदैव जाते रहना चाहिये ॥८॥

खादन्नं गच्छामि हसन्नं जल्पे गतं न शोचामि कृतं न मन्ये ।

दाम्भ्या वृत्तीयो न भवामि राजन् किं कारणं भोजं भवामि मूर्ख ॥९॥

मैं खाता हुआ मार्ग नहीं चलता हूँ, और बहुत बात करते हुए बहुत हँसता नहीं हूँ । गये हुए का शोच नहीं करता, और

जहाँ दो मादमी एकामुठ में बात करते हों, यहाँ मैं (तीसरा)
जाता भी नहीं—फिर हे राजा भोज, मैं मूर्ख क्यों हूँ ? ॥२॥

प्रथमे वार्त्तिता विद्या द्वितीये वार्त्तिर्द्वयम् ।

तृतीये वार्त्तिर्द्वयं पुनर्न किं करिष्यति ॥१॥ ॥

प्रथमा व्यवस्थामें विद्या नहीं सम्पादित की दूसरी व्यवस्था
में धन नहीं उपार्जित किया तीसरी व्यवस्थामें पुण्य नहीं
कमाया तो फिर बीथी व्यवस्था—बुढ़ापे—में क्या करेंगे ? १०

कुपयन्त्येव कुप्य प्रयाज्यं कुमिष्यन्ति च कुमोक्ष्यन्ति च ।

स्वाध्यायैव कुप्यं पुं रतिः कृत्स्न्यवन्त्यापन्नं कुमो कथं ॥११॥

अन्त्यायी राजाके राज्य में प्रजा को सुख कहाँ ? कपटी
मित्र की मित्रता में सुख कहाँ ? दुष्टुणी ली के साथ घर में
सुख कहाँ ? और करार शिष्यको पढ़ाने से पठ कहाँ ? ॥११॥

स्फुट

बहु कुडीयुतं गतिरपि तथा बहिर्गत्या

विश्रीर्न कथाविः अन्तर्निर्गच्छं भवेत्तु कम् ।

किं च कुलं बहुस्तिमितं चैराहममहो

मनो मे निर्गच्छं जपे विप्रेभ्यः स्मृतं च ॥१॥

कमर डेढ़ी पड़ गई है, छाडी के सहारे खड़ा हूँ, हाँव
हूट गये हैं, कान पारें हाँ रहे हैं, सिर के बाक सफेद हो
रहे हैं, माँजों के सामने धँसेरा छाया रहता है, क्यापि मेरा
एक तिर्हम्मा सब विषयाँ की ही दण्डा करता रहता है ॥१॥

क्वचिद्विद्वद्गोष्ठी क्वचिदपि सुरामत्तकलह
क्वचिद्वीणावाद्य क्वचिदपि च द्वाहेति रुदितम् ।
क्वचिद्रम्या रामा क्वचिदपि जराजर्जर तनु ।
न जाने संसार किममृतमय किं विषमय ॥२॥

कहीं विद्वान् लोग सभा कर रहे हैं, कहीं शरावी लोग मस्त
होकर लड़ रहे हैं, कहीं वीणा बज रही हैं, कहीं हाय हाय कर
के लोग रो रहे हैं, कहीं सुन्दर रमणीय स्त्रिया दिखाई दे रही
हैं, कहीं बुढ़ापे से जीर्णजर्जर शरीर । जान नहीं पड़ता कि यह
संसार अमृतमय है अथवा विषमय ॥२॥

बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेमरञ्जु दृढ बधनमाहु ।
दाहमेदनिपुणोऽपि पदभिर्निष्क्रियो भवति पङ्कजकोशे ॥३॥

संसार में बहुत प्रकार के बधन हैं, परन्तु प्रेम का बधन सब
से अधिक मजबूत है— देखो भौंरा, जो काठ में भी छेद कर
देता है, वही जब कमल-कोश में रात को बँध जाता है, तब कुछ
नहीं कर सकता ॥३॥

चित्ते भ्रान्तिजायते मद्यपानात् भ्रान्ते चित्ते पापचर्यामुपैति ।

पापं कृत्वा दुर्गतिं यान्ति मूढा तस्मान्मद्यं नैव पेयं न पेयम् ॥४॥

मद्यपान से चित्त में भ्रान्ति उत्पन्न होती है, और चित्त
में भ्रान्ति हो जाने से पाप की तरफ मन चलता है, पाप करने
से दुर्गति होती है । इस लिए मद्यपान कभी न करना चाहिए ।

घातां च कौतुकवती विमला च विद्या

लोकोत्तर परिमलश्च कुरंगनाभे ।

तंलस्य विन्दुरिष घारिणि दुर्निवार-

मेतत्प्रयं प्रसरति स्वयमेव लोके ॥५॥

कौतूहल उत्पन्न करनेवाली चार्चा, सुन्दर विमल विद्या और कस्तूरी की गन्ध—ये तीनों स्वयं सब अमर फल जाती हैं, रोके नहीं रुक सकती—जिस प्रकार पानी में तेल का दूब । १६॥

कर्म पावकः क्षमा शिरिच्छिन्नोर्म बोधम् ।

मातुष्यं अक्षिण्डुकोककर्म केवोर्म बोधम् ॥

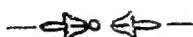
दायं वो न करोति निवृत्तमस्मिन्नेवं न भुञ्जे न वा ।

कथापातकुलो कथापिच्छ बोधशिक्षा दधते ॥१॥

धन पैरों की धूल के समान है, अनाबी पछाड़ी नदी के वेग के समान शीतलामी है, मायु अन्न के वायस किन्तु के समान स्थिर है जीवन पानी के फल के समान सजसंगुर है । ऐसी दशा में जो स्थिरपुष्टि होकर दान नहीं करते हैं, और न सुख ही भोगते हैं, न पुढ़ावे में पड़वाकर शोक की भाग में अकते हैं ॥ १॥



तरुण-भारत-ग्रन्थावली



(सन्पादक—पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी)

स्वास्थ्य-सम्बन्धी पुस्तके

- १ आहारशास्त्र—लेखक आयुर्वेद-पंचानन पं जगन्नाथप्रसाद
जी शुक्ल भिषङ्गणि मूल्य २)
- २ प्राणायाम रहस्य—लेखक स्वामी सर्वानन्द जी सरस्वती मूल्य १॥)
- ३ हमारे बच्चे स्वस्थ और दीर्घजीवी कैसे हों ?—लेखक
आयुर्वेद-विशारद पं० महेन्द्रनाथ जी पाडेय, मूल्य १)
- ४ भोजन और स्वास्थ्यपर महात्मा गान्धीके प्रयोग—मू० ॥)
- ५ ब्रह्मचर्य पर महात्मा गान्धी के अनुभव— मूल्य ॥)
- ६ इच्छाशक्ति के चमत्कार—लेखक वायू बुद्धिसागर वर्मा
बी० ए० एल० टी० विशारद, मूल्य १-)
- ७ उप पान—लेखक प० लक्ष्मीप्रसाद जी पाडेय, मूल्य १-)
- ८ हमारा स्वर मधुर कैसे हो ?—लेखक धीरामरत्नाचार्य, मूल्य १-)
- ९ कान के रोग और उनकी चिकित्सा—लेखक "एक
अनुभवी" मूल्य १)
- १० दीर्घायु और दीर्घजीवियोंके अनुभव—लेखक प्रो०
विनयमोहन शर्मा एम० ए० एल० एल० बी० मूल्य ॥)

- २ बिहारा फूझ—केसिका भीमकी स्मरनपी रेबी सुख १४)
- ३ मीरन का मूल्य—केसक बा प्रभातकुमार
मुजोराम्बाव, सुख १॥)
- ४ फुलवाकी—(ऐतिहासिक उपन्यास) केसक बाबू
कैलानमोहन झाचार्य सुख २)
- ५ बिपरी कोपड़ी—(महात्म)—केसक बाबू लखनसिंहारी
काक बी ९ कक सुख बी सुख ७)
- ६ तिरीय—(नामक) केसक बी रामेश्वरप्रसाद जी
गुल कुमार सुख सुख ॥॥)
- ७ सुन्दारवा—(गुजरात की बीपड़वा) केसक बी
रामेश्वर प्रसादकी गुल "कुमार सुख" सुख ॥॥)
- ८ पापेपिका—(क्वाभिरोंका संग्रह) केसक बाबू
जीवाचरिंद जी सुख १)
- ९ द्यासु माता—केसक जीकुल लखराम जी बी ९ सुख १०)
- १० सद्गुप्पी पुत्री—केसक जीकुल लखरामजी बी ९ सुख १०)
- ११ महक महाराज की प्रयास-कथा—केसक बाबू कक-
मालुसिंह जी सुख १)
- १२ मानसधविमा—(क्वाभिरोंका संग्रह) केसक बाबू
दुर्जनप्रसाद कुलुवाका बी ९ सुख १॥)

पुस्तकें मिस्त्रनेका पता—

मैनेनर लख भारत प्रन्वाबसी

बारामग इलाहाबाद

